# राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में संतकाव्य का अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत)

## शोध-प्रबन्ध
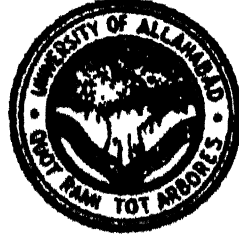
*निर्देशक :*
**डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव**
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

*शोधकर्ता :*
**राम पाल गंगवार**

**हिन्दी विभाग**
**इलाहाबाद विश्वविद्यालय**

२००१

# प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल अपनी रचनाधर्मिता और सामाजिक चेतना को जागृत करने के कारण स्वर्ण-युग के नाम से भी अभिहित किया जाता है। भक्तिपरक रचनाओं ने थके-हारे दिशाविहीन समाज को दिशा प्रदान करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। नामदेव, कबीर, नानक, रैदास, दादूदयाल, मलूकदास, सुन्दरदास, रज्जब, दरिया साहब, चरणदास, पलटूदास, सहजोबाई, दयाबाई जैसे संतों ने अपनी रचनाओं से मानव–मन को शान्ति एवं प्रेरणा प्रदान की। भक्तिकाल की अजस्रधारा आधुनिककाल तक प्रवाहमान रही है।

संतों का जीवन पर्यटन, भ्रमण, सदाचरण और अध्यवसाय में व्यतीत हुआ। अधिकांश संतों ने 'पोथी' नहीं पढ़ी थी, क्योंकि वे 'कागद लेखी' की जगह 'आँखिन देखी' में विश्वास करते थे। उनकी वाणियों में उनका कालजयी व्यक्तित्व विराजमान है। संत-काव्य में संदेश प्रधान है, उन्होंने मात्रा, यति, आदि का ध्यान न देकर अपनी बात सहज, सरल भाषा में कहने का प्रयास किया। संतों ने सामाजिक चेतना को जागृत करने के साथ ही साथ राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने का प्रयास किया और बिखरे समाज को जोड़ा। प्रतीकों, बिम्बों के सहारे अपनी बात साफगोयी के साथ कही।

'राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में संतकाव्य का अध्ययन' विषय पर शोध की अभिरुचि अध्ययन–अध्यापन के आरम्भ से ही रही। कबीर के चिन्तन, दर्शन ने विशेष–रूप से प्रभावित किया। शोध–प्रबन्ध, अध्ययन और लेखन की सुविधा की दृष्टि से छः अध्यायों में विभक्त किया गया है।

शोध–प्रबन्ध की पूर्णता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी अकादमी, पब्लिक लाइब्रेरी, यूनीवर्सिटी लाइब्रेरी, इलाहाबाद, नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई, इसके लिए मैं वहाँ के अधिकारियों, कर्मचारियों का हृदय से आभारी हूँ।

शोध–प्रबन्ध के निर्देशक डॉ० जे०पी० श्रीवास्तव ने अत्यंत व्यस्तता के बावजूद समय–समय पर मार्गदर्शन किया। संत-साहित्य पर कार्य करने की प्रेरणा को फलीभूत करने में आपके संत स्वभाव, प्रतिभाशाली व्यक्तित्व एवं सहयोगात्मक वृत्ति की महती भूमिका रही। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध परम श्रद्धेय गुरुजी के आशीर्वाद का परिणाम है। मैं उनके प्रति आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ– 'क्या दूँ गुरु संतोषिये, हौंस रही मनमाहि' (कबीर)।

चूँकि विषय एकदम नया था, अतः इस पर कार्य करने का प्रोत्साहन देने वालों में मेरे निर्देशक के अतिरिक्त संत–साहित्य के मर्मज्ञ डॉ० व्रजलाल वर्मा जी, पूर्व सदस्य लोक सेवा आयोग, इलाहाबाद, उ०प्र०, का प्रमुख स्थान है; जिन्होंने मेरे शोध-विषय को देखकर मेरे निर्देशक डॉ० जे०पी० श्रीवास्तव की यह कहकर प्रसंशा की– 'यह शीर्षक जिसने भी सुझाया, वह निश्चित रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् और अत्याधुनिक दृष्टिसम्पन्न साहित्यविद् है। राष्ट्रहित में ऐसे प्रासंगिक एवं उपयोगी विषयों पर शोध होना ही चाहिए'। मैं पिता–तुल्य डॉ० व्रजलाल वर्मा के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनसे यदा–कदा की गयी उक्त विषय सम्बन्धी बातचीत ने शोध–कार्य में मेरी काफी सहायता की।

मैं हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के उन सभी गुरुजनों के प्रति, विशेष-रूप से डॉ० मोहन अवस्थी, डॉ० वाई.पी. सिंह, डॉ० मालती तिवारी (विभागाध्यक्ष), डॉ० (स्व०) मालती सिंह, डॉ० राजेन्द्र कुमार, डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र, डॉ० रामकिशोर शर्मा, डॉ० शैल पाण्डे जी के प्रति अपना हार्दिक अभिवादन एवं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ, जिनका आशीर्वाद एवं सहयोग मुझे सदैव प्राप्त होता रहा है।

प्राक्कथन का समापन करने से पूर्व मैं अपने पूज्य पाद प्रातः स्मरणीय पिता जी श्री लालाराम गंगवार को सादर नमन करता हूँ जिनका विराट व्यक्तित्व मुझे हमेशा संघर्षरत रहने की प्रेरणा देता रहा। मेरी ममतामयी माँ श्रीमती नारायणी देवी का स्नेह एवं आशीर्वाद ही है जो मुझे हमेशा आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहा है और विषम परिस्थितियों में भी मैं उन्हीं से प्रेरित होता हूँ। परन्तु आज मैं जिस मुकाम पर हूँ, वहाँ

पहुँचाने में सर्वाधिक योगदान रहा है मेरे दोनों बड़े भाइयों– श्री जगदीश प्रसाद एवं श्री सुन्दर लाल का। बचपन में ही पिता जी के स्वर्गवास के बाद मेरे भाइयों ने मुझे कभी भी किसी चीज की कमी महसूस नहीं होने दी। सर्वाधिक प्रेरित करने में हाथ रहा, श्री सुन्दरलाल भाई साहब का, जिनकी दृढ़ता, दूरदर्शिता एवं प्रतियोगितात्मक भावना ने मुझे दृढ़, दूरदर्शी एवं प्रतिस्पर्धी होने की प्रेरणा प्रदान की । मैं उनका हमेशा ऋणी एवं आभारी रहूँगा। अध्यापन-जगत् में आने के बाद आयी थोड़ी आराम-पसन्दगी की प्रवृत्ति को शादी के बाद तोड़ने में सर्वाधिक हाथ रहा, मेरे श्वसुर श्री आर०पी० सिंह का; किन्तु प्रेरणा एवं सहयोग सर्वाधिक रहा, मेरी सास श्रीमती विद्या सिंह का, जिन्होंने मेरी अधिकांश पारिवारिक जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ले ली, अन्यथा शोध कार्य में और देरी होती। मेरी पत्नी श्रीमती नीलम सिंह ने इस गुरुतर कार्य को सम्पादित करने में पूर्ण सहयोग दिया जो मेरे एक वर्षीय बेटे कुशाग्र के साथ रहकर उसका विधिवत पालन–पोषण करती रहीं और मुझे कभी घरेलू समस्याओं की भनक तक नहीं लगने दी। इसके अतिरिक्त अपने मित्रों, विभागीय सदस्यों व अन्य सम्बन्धियों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहा।

# अनुक्रमणिका

# अध्याय-1

# राष्ट्रीय एकता : अर्थ और प्रयोजन

## (क) राष्ट्रीय एकता :

राष्ट्रीय एकता मूलत· भावात्मक है तथा यह एक सामुदायिक भावना है जो किसी देश के नागरिकों में स्वतः विकसित होती है। राष्ट्रीय उत्थान या संकट की घड़ी में जब सारा राष्ट्र तन, मन, धन से खड़ा हो जाता है तब राष्ट्रीय एकता का जीवन्त स्वरूप निखरता है और हकीकत भी यही है कि राष्ट्रीय एकता ही किसी राष्ट्र की आत्मा होती है, राष्ट्र की शक्ति होती है। यजुर्वेद की एक उक्ति 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'[1] को देखें तो इसका आशय है कि हम अपने राष्ट्र में सजग, सावधान होकर अगुआ बनें। यह उक्ति एक ओर जहाँ हमारे मानस को राष्ट्र से जोड़ती है, वहीं हमें समवेत रूप से उसके लिए सक्रिय होने का आह्वान भी करती है। ऋग्वेद का यह मंत्र सभी प्रमुख देवताओं का राष्ट्रीय चेतना बलवती करने के लिए आह्वान करता है-

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं ते इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।।[2]

एकता, सामंजस्य और आपसी तालमेल की यह भावना एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षिक प्रक्रिया भी है, जिसके द्वारा आमजन के हृदय में एकता, सुदृढ़ता, संगठन और विकास के भाव का प्रादुर्भाव होता है। इसी से समता, समानता, राष्ट्रीयता और निष्ठा का भाव भी जागृत होता है। यह भावना जन्मजात या नैसर्गिक हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इसे तो मानव अपने समाज के विभिन्न स्रोतों, मान्यताओं, परम्पराओं से प्राप्त करता है। जीवन के आरम्भिक दिनों से ही व्यक्ति समाज, शिक्षा, संस्कृति और उससे जुड़ी परम्पराओं से जो कुछ सीखता है वही उसमें एक खास तरह के

---

1. यजुर्वेदः 9/23
2. ऋग्वेदः 10/173/5

सोच का निर्माण करती है और यही सोच कहीं न कहीं से उसके व्यक्तित्त्व का हिस्सा भी बनती है।

'जननी-जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'[3] के माध्यम से इस भूमि की तुलना अगर स्वर्ग से की गयी है तो यह अनायास नहीं है। इसके पीछे यही भाव निहित है कि लोग अपनी मातृभूमि के महत्त्व और गौरव को समझते हुए उसी के अनुरूप आचरण भी करें। राष्ट्रीय एकता की यह शिक्षा-प्रक्रिया कई रूपों में चलती है। इसका एक स्वरूप तो अनौपचारिक है जिसमें परिवार, समाज, सांस्कृतिक आयोजन तथा प्राकृतिक, सामाजिक साधन सहायक होते हैं। वस्तुतः राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्र के लिए आत्म-बलिदान की ललक यहीं से पैदा होती है। दूसरी प्रक्रिया है औपचारिक जिसमें विद्यालयों, महाविद्यालयो में निर्धारित पाठ्यक्रमों व समय-तालिका के अनुरूप शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था है। यह प्रक्रिया, पहली प्रक्रिया को पुष्ट करती है तथा हमारे विचारों को एक गति प्रदान करती है। इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि यह प्रक्रिया शैक्षिक होने के साथ ही मनोवैज्ञानिक भी है, क्योंकि राष्ट्रीय एकता की भावना मूलतः भावात्मक है और भावनाओं का जनक तो पूरी तौर से मन ही होता है। 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' यह एक ऐसी उक्ति है जो पराजय और हीन-भावना के भाव से मुक्ति का बोध कराती है।

वैसे भी राष्ट्रीय एकता या देश के विभिन्न सम्प्रदायों, समुदायों में पारस्परिक सद्भावना कोई वस्तु नहीं है जिसे आँखों से देखा जा सके मगर इसकी धड़कनों को महसूस तो हर वक्त किया जा सकता है। यह ऐसा पक्ष है जिसमें हर देशवासी यह अनुभव करने लगता है कि यहाँ रहने वाला हर आदमी उसका भाई और मददगार है, हम किसी भी प्रान्त में अकेले और असहज नहीं हैं, सब एक दूसरे की मदद को आतुर रहते हैं, इस भाव का बोध तो तभी होता है जब आदमी खुद इस बात को महसूस करे और यही भावना उसे दूसरे के सुख-दुःख में आगे आने को प्रेरित करती है।

---

3. बाल्मीकि रामायण।

बाबा भारती और डाकू की कथा को अगर देखें तो बाबा के घोड़े को हथियाने के लिए वह फ्कीर का वेश धारण कर रास्ते में मदद के लिए खड़ा रहता है। बाबा उसे घोड़े पर बिठा देते हैं और वह एड़ लगाकर घोड़ा छीन लेता है। उस वक्त बाबा उससे यही कहते हैं, ठीक है तुम घोड़ा ले जाओ मगर किसी से यह मत बताना कि तुमने फ्कीर बनकर, धोखा देकर इसे प्राप्त किया है, क्योंकि इससे लोगों की आस्था फ्कीरों, गरीबों पर से उठ जायेगी और वे बेचारे बेमौत मारे जायेंगे। इसमें सबसे बड़ा भाव तो आस्था और विश्वास का है तथा यही स्थितियाँ किसी में भी या तो देश-प्रेम जागृत करती हैं या फिर वह एकता के खिलाफ खड़ा हो जाता है या मायूस होकर घर बैठ जाता है। मन की यह टूटन ही देश की एकता के रास्तों को बंद करती है। इसलिए हर स्तर पर यह जरूरी है कि लोग एक-दूसरे की मदद को तत्पर रहें, हर भाषा-भाषी का सम्मान करें, सभी धर्मों का आदर करते हुए अपनी दिनचर्या का निर्वाह करें।

शास्त्रों, पुराणों, विद्यालयों अथवा धर्म-गुरुओं की बातों का सार भी यही है कि समाज, देश की एकता और तरक्की के रास्ते पर चले। इस भावना में किसी भी तरह का गतिरोध अथवा अज्ञानता ही आगे चलकर विघटनकारी ताकतों की पूँजी बन जाती है। जम्मू-काश्मीर में कई पर्यटकों की हत्या में शामिल एक प्रशिक्षित आतंकवादी युवक के पकड़े जाने पर सेना के अधिकारियों ने उससे बातचीत की तो उसने यही बताया कि एक तो उसे इस भयावह स्थिति का आभास नहीं था, दूसरा यह कि उसे भारत-विरोधी कैसेट्स बगैरह दिखाकर भड़काया गया था और यह बताया गया था कि कश्मीर तुम्हारे धर्म का हिस्सा है, तुम्हारे पूर्वजों की जमीन है इस पर भारतीय सेना ने जबरदस्ती कब्जा कर रखा है, इसे मुक्त कराके इस्लाम धर्म की रक्षा करनी है। उस युवक को अगर स्थिति की गम्भीरता का अहसास होता और असलियत की जानकारी होती तो शायद वह इस रास्ते पर नहीं जाता या फिर इसका प्रतिकार करता। लिहाजा आमजनों में देश से जुड़ी भावनाओं, ऐतिहासिक सच्चाईयों, भूलों का प्रचार-प्रसार होना चाहिए। एकीकरण की प्रक्रिया कोई साधारण या सामान्य प्रक्रिया नहीं है।

यह बात हमें समझनी होगी कि अनेक व्यक्तियों को एक भौगोलिक सीमा में बाँधकर अथवा एक संविधान देकर, एक सरकार देकर ही उन्हें एकीकरण से नहीं जोड़ा जा सकता। सबसे जरूरी है मनोदशा में परिवर्तन और यह एक सतत् प्रक्रिया है जो समाज, परिवार, शिक्षा, शासन व्यवस्था और रोजमर्रा की जिन्दगी से मजबूत और कमजोर होती है। किसी का मन अगर दुर्व्यव्यवस्थाओं से टूट चुका है तो उसे आज देश प्रेम या देश की एकता से जोड़े नहीं रख सकते। वह फिर अपनी समझ से कम दूसरों की समझ का ज्यादा इस्तेमाल करेगा, ऐसे में रास्ता गलत होने की गुंजाइश ही ज्यादा है। इसलिए यह तो हर हाल में जरूरी है कि संकुचित और विषाक्त वातावरण से समाज को मुक्ति दिलाकर लोगों के मन में प्रेम तथा मित्रता के भावों का संचार करें। वस्तुतः राष्ट्रीय एकता और उसके अर्थ व प्रयोजन का मूलमंत्र भी यही है। जब तक मन में प्रेम, सद्भावना, उदारता और राष्ट्रहित के उदात्तभाव नहीं जगते, राष्ट्रीय एकता सर्वथा असम्भव है। यह सही है कि दुनिया का कोई भी राष्ट्रपूर्ण आंतरिक एकता अभी तक नहीं प्राप्त कर सका है मगर इसका यह अर्थ कतई नहीं होना चाहिए कि इस दिशा में प्रयत्न ही न हो।

## (ख) राष्ट्र और देश का अर्थ-बोध :

यह सवाल भी सीधे-सीधे भावनात्मक एकता के बीज-मंत्र से ही जुड़ा है, क्योंकि जिसके मन में राष्ट्र के भविष्य के प्रति आस्था नहीं होगी, समान अवसर नहीं होंगे, उसके लिए तो एकता की बात ही बेमानी होगी। आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक अवसरों की पारदर्शिता तथा इससे जुड़ी संस्थाओं, व्यक्तियों का आचरण भी लोगों की सोच को गहराई तक प्रभावित करता है। पिछले वर्षों में अगर आमजन की आस्था चुनाव, दलों की भूमिका और नेताओं के रवैये को लेकर कमजोर हुई है तो इसका सीधा असर राष्ट्रीय राजनीति पर भी देखा जा सकता है। अपनी परम्पराओं, महापुरुषों की जीवनशैली और ग्रंथों की ओर अगर देखें तो स्पष्ट है कि राष्ट्र की एकता, अखण्डता और समृद्धि के लिए एक से एक अद्भुत उदाहरण हैं। वीरता,

देशभक्ति, दानवीरता, उदारता, कर्तव्य-परायणता की ऐसी मिसाल खोज नहीं मिलेगी। मगर जरूरी है लोगों को इस तरह के मूल्यों, आदर्शों, सिद्धान्तों से जोड़ना और इस दिशा में प्रेरित करना।

गुरु-शिष्य परम्परा के जमाने में अगर कोई महर्षि अपने शिष्यों को यह कहता था कि तुम लोगों का पानी समान हो, तुम्हारा अन्न समान हो, तुम सबको समान[4] बंधन, व्रत और दिनचर्या में बांधता हूँ, तुम सदा एक दूसरे के साथ जुड़े रहो तो इसका सीधा मतलब यही है कि वह अपने शिष्यों को देश की एकता से जोड़कर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। गुरु यह भी कहता है कि आज मैं तुम सबके बीच से विद्वेष की भावना को हटाकर समानता, सहृदयता और विश्वबंधुत्व का भाव स्थापित करता हूँ। तुम सब एकदूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय, बछड़े को करती है, माँ, बच्चे को करती है। शिक्षा का यह सूत्र आज भी एकता की शक्ति को बढ़ाने में समर्थ है मगर इसके लिए जरूरी है इस भाव का अर्थ-बोध।

गाँधी ने अगर 'मनसा वाचा कर्मणा' की बात की या सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया तो उसी रास्ते पर चले भी। कथनी और करनी में कोई फर्क न होने की वजह से ही एक बूढ़े के पीछे हजारों लोग चल पड़ते थे। एक निहत्था आदमी सशस्त्र सेनाओं पर भी भारी पड़ जाता था। इस सत्य को समझते हुए यह भी देखना होगा कि राष्ट्रीय एकता शुद्ध रूप से आंतरिक तत्त्व है। जब शरीर कमजोर होगा तभी रोगों का आक्रमण होगा। बाहरी शक्तियाँ तभी मजबूत होगी जब हमारी आंतरिक ताकतें क्षीण होंगी। जाति, भाषा, सम्प्रदाय और क्षेत्रवाद के रास्ते पर चलकर कोई देश न तो तरक्की कर पाया है और न इन रास्तों से देश की एकता का कोई मार्ग ही निकलता है। यदि राष्ट्र के निवासी मनसा-वाचा-कर्मणा एकता के सूत्र में बँध जायें, तो वे अजेय हैं।[5]

---

4. समानी पूपा सहवोऽन्न भाग: । समानेयोक्त्रे, सह वो युनज्मि।। (अथर्ववेद)
5. हिज कालटू द नेशनः पृ० 93

गौतम बुद्ध ने अगर सत्य, अहिंसा, प्रेम की वकालत की तो उससे कभी डिगे नहीं। उन्होंने अपना मार्ग नहीं बदला जिसका नतीजा यह निकला कि घर से वह राजकुमार अकेले ही निकला था मगर दुनिया के तमाम देश, तमाम राजा और पूरा का पूरा साम्राज्य उनका भक्त हो गया। युवराज सिद्धार्थ 'बुद्ध' हो गये। उन्होंने जीवन के सच को जिस सहज ढंग से स्वीकार कर लिया और धार्मिक ढोंग, पाखण्ड, गैर बराबरी के विरूद्ध जिस तरह से खड़े हो गये उसकी मिसाल नहीं मिलती। इसलिए जरूरी है अनेकता में एकता की मशाल को जलाये रखना और इस महत्त्व को बनाये रखना कि मातृभूमि स्वर्ग से भी श्रेयस्कर है। हम अपने देश को अपनी माता के रूप में पूजते हैं, हम सब उसी की संतान हैं, भाई-भाई हैं। हमारी भाषा, भूषा और रहन-सहन का तौर तरीका अलग हो सकता है मगर हममें कोई दुराव या भेदभाव नहीं है। जिस दिन यह अर्थबोध जागृत हो गया, देश की आधी समस्याएँ तो स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी। युवा पीढ़ी अगर जाने कि देश की आंतरिक संरचना विभिन्नताओं, अनेकताओं से भरी हुई है, यहाँ अनेक धर्म, अनेक भाषाएँ, अनेक सम्प्रदाय और परम्पराएँ एक साथ चल रही हैं तथा अनेकता में एकता ही इस देश की विशेषता है तो शायद उनकी सोच में भी कुछ सार्थक बदलाव आ सके। 'सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज, शीतलाम्' की भावना ही उन्हें इस दिशा में सोचने को प्रेरित भी कर सकती है। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने लिखा है कि हमें यह कतई नहीं भूलना चाहिए कि हमारा एक राष्ट्र है और इसका सांस्कृतिक जीवन एक है और एक रहेगा। हमें यह समझ लेना है कि हमारा सांस्कृतिक जीवन कभी भी विभाजित नहीं था। यदि पानी की सतह पर हम एक छड़ी रख दें तो ऐसा मालूम पड़ेगा कि पानी विभाजित हो गया है। किन्तु पानी तो अविभाजित ही रहता है और ज्योंही छड़ी हटाई जाती है, त्योंही वह दिखाई पड़ने वाली विभाजन रेखा लुप्त हो जाती है।[6]

---

6. मौलाना अबुल कलाम आजाद- इंडिया विन्स फ्रीडम- पृ०197

## (ग) देश की भौगोलिक संरचना– ऐक्य बोध :

भौगालिक एवं प्राकृतिक सीमाओं के आधार पर अगर भारत की संरचना को देखें तो यह प्रकृति का अद्‌भुत वरदान ही है कि एक ओर दुनिया की सबसे ऊँची पर्वत श्रृंखला हिमालय तो दूसरी ओर गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु और कावेरी जैसी नदियों का अविरल प्रवाह। कहीं मीलों दूर तक फैली जंगलों की निराली छटा तो कहीं खेतों में लहलहाती धान की बालियाँ। कहीं चौतरफा बर्फ की फुहार तो कहीं सुदूर तक फैला रेगिस्तान। देश के विभाजन की त्रासद घटना को छोड़ दें तो सदियों से भारतीय उपमहाद्वीप की सीमायें सुरक्षित और यथावत हैं। सम्पूर्ण देश में मंदिरों, देवालयों की कतार जहाँ आज भी भक्ति और आस्था का केन्द्र है, वहीं प्रयाग, उज्जैन, नासिक और हरिद्वार में लगने वाला कुम्भ दुनिया का सबसे बड़ा मेला बन जाता है। विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों के साधु महात्मा और भक्तगण जिस तरह से एक दूसरे से गुँथे हुए नजर आते हैं, सहसा यकीन नहीं होता।

वैदिक मंत्रों में भारत की भौगोलिक एकता को अगर देखें तो अग्नि, जल, सूर्य, वायु, वरुण, इन्द्र, पर्वत, सर्पराज और नाना प्रकार की वनस्पतियों समेत जीव-जन्तुओं तक से जनहित की कामना के बाद ही कोई शुभकार्य अथवा हवन-यज्ञ शुरू करने की परम्परा है। ऐसी कामना या पूजनपद्धति सम्भवतः पूरी दुनिया में कहीं नहीं है जहाँ तीनों लोकों का आह्वान किया जाता हो। इतना ही नहीं सात पवित्र नगरों का आह्वान भी कुछ इस प्रकार हैः-

अयोध्या मथुरा माया-काशी-काञ्ची अवन्तिकाः।
पुरी-द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।[7]

यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जिस देश में मातृभूमि के मूर्तरूप का स्मरण करते हुए राजा गद्दी पर बैठता हो तथा तमाम तरह के पूजन-अर्चन होते हों तो स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन की आज अगर पूरे विश्व में मान्यता है, वह अनायास नहीं है।

7. लोकप्रचलित अनाम छन्द (भारत की राष्ट्रीय एकता से उद्‌धृत, पृ० 55)

वस्तुतः भारत का भौगोलिक स्वरूप आदिकाल से ही दार्शनिकों, कवियों, भूगोलवेत्ताओं, कलाकारों, साहित्यकारों व संतों का प्रेरणा स्रोत रहा है। इस भूमि की विशेषताओं के कारण ही पूरे देश में एकता के भाव का विकास हुआ और वह दिनोंदिन स्थिर व दृढ़ होता गया। समस्त विभिन्नताओ के बीच हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक एकता की धारा देखी जा सकती है। महाकाव्य और पुराणों में इस सम्पूर्ण देश को 'भारत वर्ष' तथा यहाँ के निवासियों को 'भारती' कहा गया है। विष्णु-पुराण में कहा गया है कि 'समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में जो स्थित है वह भारत देश है तथा वहां की सन्तानें भारती हैं।'[8] यहाँ की साहित्यिक-धार्मिक कृतियों में युग-युगांतरों से अगर प्रकृति, ब्रह्माण्ड, भूलोक और समुद्र की अथाह गहराइयों का भी विवेचन होता रहा है तो इसकी वजह यही है कि हर तरह का मौसम, जलवायु और चिन्तन मनन के अनुकूल परिस्थितियाँ हर भू-भाग पर नहीं होती। बेटी की शादी हो या बेटे का उपनयन संस्कार, राज्याभिषेक हो या वास्तुपूजन, अश्वमेघ-यज्ञ हो या सर्पयज्ञ मांगलिक उत्सव हो या पितृ-तर्पण की परम्परा सबमें इस चराचर जगत की आराधना का विधान अगर है तो इस पद्धति के पक्ष में वैज्ञानिक कारण भी हैं। सदियों से भारतीय मनीषियों ने एक निर्धारित सीमा क्षेत्र के भीतर इस भूमि की माता के रूप में आराधना की है, यहां का लोकमानस न तो कभी आक्रामक रहा है और न ही यहाँ के शासकों न कभी किसी अन्य राज्य पर आक्रमण ही किया। लोक मंगल की ऐसी कामना करने वाला शायद ही कोई और मुल्क हो। यही वजह है कि वर्तमान राजनीतिक एकता का मूल आधार भी इस देश की भौगोलिक एकता ही है। 'युग-युग से भारत की भौगोलिक एकता ने सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ एवं अक्षुण्ण रखा है।'[9]

## (घ) धर्म : संस्कृति एवं सामाजिक ऐक्य का आधार :

प्राचीन भारतीय ग्रंथ ऋग्वेद हो या उसके बाद की सर्वोत्कृष्ट रचना वाल्मीकिकृत रामायण, महाभारत कालीन श्रीमद्भगवद्गीता हो या महाकवि कालिदास

---

8. उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
   वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।। विष्णु पुराण 2/3/1
9. हरिवंश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ०-57

का मेघदूत और मृच्छकटिकम्, सभी ग्रंथों ने जिस तरह से भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक मान्यताओं, परम्पराओं का विवचेन किया है, वह किसी आश्चर्य से कम नहीं है। ऋग्वेद में अगर आर्यों के विजय अभियान का सांगोपांग वर्णन है तो रामायण में राम की लंका विजयिनी सेना में द्रविड़ तथा आर्य सैनिक, सेनाध्यक्षों को एक शरीर व एक प्राण होकर लड़ते देखकर देश की एकता के विराट रूप का ही साक्षात्कार होता है। गीता में अगर भगवान कृष्ण ने शाश्वत कर्मयोग के मूलमंत्र का उद्‌घोष किया तो महावीर ने जैनधर्म की पताका फहराते हुए समस्त जीवों के प्रति प्रेम और अहिंसा का उपदेश दिया। वैदिक हिंसा के रूप में प्रचलित पशुबध का निषेध जैनधर्म की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। महावीर के समकालीन गौतम बुद्ध ने समाज को यज्ञ एवं कर्मकांड की जटिलताओं से मुक्त होने का संदेश दिया। 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' के संदेश ने ऐसी जातियों को भी देश की मुख्य धारा से जोड़ दिया जो सदियों से अलग थलग और उपेक्षित थी।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने सभी धर्मों का आदर करते हुए अपने साम्राज्य में सभी व्यक्तियों को इच्छित धर्म का पालन करने का अधिकार दिया। सम्राट् अशोक ने शेर और बकरी के एकघाट पर पानी पीने की न सिर्फ कल्पना की, बल्कि जनमानस को विश्व-बंधुत्व का संदेश भी दिया। विश्व के महानतम नरेशों में से एक सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अपने पुत्र-पुत्री को भी देशाटन में लगा दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय की शासन-व्यवस्था को अगर प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान के शब्दों में देखें तो उसने लिखा है कि प्रजाजन कहीं भी आने-जाने, बसने और व्यापार करने को स्वतंत्र हैं। प्रजासमृद्ध और सुखी है। उसे अधिक कर नहीं देना पड़ता और न उसे घरों में ताला ही लगाना पड़ता है। इसी कड़ी में अगर सम्राट् हर्षवर्धन को देखें तो हर्ष कला, साहित्य, भाषा, संगीत का पारखी ही नहीं मर्मज्ञ भी था। कुम्भ के अवसर पर हर्षवर्धन की विद्वुत् सभा में पूरी दुनिया के विद्वान् और संत-महात्मा जुटते थे तथा राष्ट्रीय और सामयिक समस्याओं पर इस सभा में जो फैसले होते थे उसे राजाज्ञा से लागू किया जाता था।

भारतीय धर्म-शास्त्रों ने अगर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' की चर्चा की है तो आचार-व्यवहार और जीवन-शैली में उसे उतारा भी। महान् क्रांतिकारी संत कबीर ने जिस साहसपूर्ण तरीके से हिन्दू-मुसलमान के बीच फैले पाखण्ड और ढोंग का सामना किया, उन्होंने इन दोनों सम्प्रदायो की एकता के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक एकता का जो शंखनाद किया। उसकी अनुगूंज अभी तक लाखों दिलों में महसूस की जा सकती है। संत तुलसीदास ने 'माँगि के खइबो, मसीत में सोइबो, लेवे के एक न देवे का दोऊ' के माध्यम से जाति-पांति पर प्रहार किया और 'सीय राममय सब जग जानी- करऊॅ प्रणाम जोर जुग जानी' के माध्यम से विघटन के कगार पर खड़े तत्कालीन राष्ट्र को राष्ट्रीय एकता का मूलमंत्र दिया। मुस्लिम शासक अकबर के 'दीने इलाही' के माध्यम से भारतीय जनमानस को जो संदेश दिया उसे अगर देखें तो (क) किसी व्यक्ति को जबरदस्ती एक धर्म से दूसरे धर्म में न लाया जाय (ख) प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म, मंदिर और धर्म-स्थल निर्माण की स्वतंत्रता (ग) हर व्यक्ति को धर्म-परिवर्तन की छूट (घ) किसी विधवा को जबर्दस्ती सती न बनाया जाये। वस्तुतः अकबर इस्लाम और हिन्दुत्व दोनों का हिमायती था किन्तु दोनों की कट्टरता से उसे सख्त नफरत थी। उसने कट्टरपंथी बनने की छूट किसी भी धर्म को नहीं दी। यही वजह है कि उस काल में भी देश ने चौतरफा उन्नति की। पंडित नेहरू के शब्दों में अगर मुगल काल के आकलन को देखें तो जब तक मुगल बादशाहों ने कौमी एकता का साथ दिया तब तक उनकी मजबूती बनी रही और जब मुसलमान हाकिम की तरह से राज करना चाहा तो इनकी सल्तनत बिखर गयी और अन्ततः भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया।

राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, चैतन्य महाप्रभु अथवा आदिगुरू शंकराचार्य की सोच और कार्यपद्धति को अगर देखें तो स्पष्ट है कि किसी भी धर्म अथवा धार्मिक परम्परा ने शासक अथवा समाज को हिंसा, शोषण, गुलामी और स्वच्छन्दता की इजाजत नहीं दी। सब ने देश की एकता, अखण्डता, सहिष्णुता को ध्यान में रखकर तदनुरुप आचरण किया और चारों दिशाओं में इस देश

की ख्याति न्याय-क्षेत्र और धर्म-क्षेत्र के रूप में हुई । धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति और विज्ञान के क्षेत्र में भारत-भूमि का कोई जबाब नहीं था। इसी परिप्रेक्ष्य में अगर भारतीय संस्कृति को देखें तो यही किसी भी देश की एकता, अखण्डता का मूल आधार है, क्योंकि यह अर्जित आचरण है। कहीं से किसी के ऊपर कुछ थोपकर उसे आप विद्वान् या महात्मा नहीं बना सकते। संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, विकास अथवा उसकी समृद्धि से उत्पन्न एक व्यवस्था है। कुछ खास ढंग के मौलिक गुणों का विकास ही संस्कृति का परिचायक बन जाता है।

इस लिहाज से भारतीय संस्कृति ने पूरी दुनिया को जो संदेश दिया, अनेकता में एकता की जो परम्परा दी और दया, करूणा, प्रेम, सत्य और अहिंसा का जो संदेश दिया, वह युगों-युगों से इसकी ख्याति को अक्षुण बनाये हुए है। दुनिया के समाज-वैज्ञानिक आज उन्हीं परम्पराओं, मान्यताओं का अध्ययन करने में व्यस्त हैं जिन पर चलकर इस देश ने विपरीत परिस्थितियों में भी जीने की कला का सूत्रपात किया। भारतीय संस्कृति की यह समन्वयकारी विशेषता ही इसकी प्राणशक्ति है, जीवन के प्रवाह की प्रतीक है।

## (ङ) सनातन संस्कृति की प्रतिष्ठा : प्रयोजन का मूल :

सभी धर्मों का आदर और आध्यात्मिकता ही भारतीय सनातन संस्कृति और धर्म की एक मौलिक विशेषता है। सनातन संस्कृति ने स्पष्ट किया कि इस जगत् में जो कुछ भी जीवन है, वह ईश्वरीय है, इसलिए ईश्वर के नाम से त्याग कर यथायोग्य भोग प्राप्त करें, किसी के धन की वासना न करें। वेदों, उपनिषदों, पुराणों की छाया में पोषित सनातन संस्कृति ने 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्पना की अर्थात् यह राष्ट्रीयता संकुचित नहीं, बल्कि उदार एवं विश्वकल्याणकारी है। वर्तमान भारतीय संस्कृति विभिन्न भाषा-भाषी जातियों की युगों से प्रवाहित चेतना की देन है। यह एक सनातन प्रक्रिया है जो अभी तक अनवरत जारी है।

वस्तुतः भारत की धरती पर विभिन्न जातियों को एक महाजाति के सांचे में ढालने तथा विविध सांस्कृतिक धाराओं को मिलाकर एक विराट भारतीय संस्कृति-सागर बनाने की अद्भुत प्रक्रिया आदिकाल से चल रही है जिसने भारत की आत्मा का निर्माण किया।

आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों के समन्वय की पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण की एक कथा से होती है। एक ऋषि की दो पत्नियाँ थीं। एक ब्राह्मण तथादूसरी शूद्र। दोनों पत्नियों को एक-एक पुत्र उत्पन्न हुए। शूद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र की उपेक्षा करके ऋषि ब्राह्मण पत्नी के पुत्र को शिक्षा देने लगा। शूद्र पुत्र इस उपेक्षा से दुःखी हुआ और उसने माता से अपनी वेदना कही। माता ने कहा बेटे हम लोग शूद्र हैं, धरती की संतान हैं। धरती माता के अतिरिक्त संसार में हमारा कोई नहीं है। पुत्र ने धरती माता का आह्वान किया और उन्हीं के संरक्षण में बारह वर्षों तक साधना की, शिक्षा-दीक्षा ग्रहण किया। वह महान् विचारक के रूप में अपनी माता के पास लौटा। उसी पुत्र ने आगे चलकर ऐतरेय ब्राह्मण नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। आर्य मूर्ति-पूजक नहीं थे फिर भी उन्होंने सनातन संस्कृति के प्रतीक शिव की पूजा को अपना लिया। शिव मूलतः आर्येतर देवता हैं मगर आर्यों द्वारा शिवलिंग की पूजा अर्चना को अंगीकार करना वस्तुतः भारत में सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया का ही प्रतीक है।

यहां की सनातन संस्कृति से जुड़े मूल्यों को देखें तो देश की सांस्कृतिक एकता को सशक्त करने में दो महापुरुषों से सम्बन्धित महाकाव्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। राम और कृष्ण के महान चरित्रों को देखें तो रामायण और महाभारत ने जनमानस पर जो असर डाला वह अभी तक भारत की सनातन परम्परा और संस्कृति का एक अटूट हिस्सा बना हुआ है। जैन और बौद्ध धर्मों ने संकुचित वर्ण-व्यवस्था पर चोट की। थोड़ा बहुत उथल-पुथल भी मचा मगर इन दोनों धर्मों की सहिष्णुता हर तरह के संकट काल में काम आयी और जनमानस ने आगे चलकर यह मान लिया कि बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नहीं, बल्कि सनातन धर्म और संस्कृति का ही परिमार्जित रूप है। सनातनी

धर्माचार्यों ने भगवान् बुद्ध को अपने दशावतारों में भी शामिल कर लिया । तर्क यह दिया गया कि जिस तरह से धर्म की स्थापना के लिए विष्णु ने राम और कृष्ण का अवतार लिया, उसी तरह जीव हिंसा रोकने के लिए बुद्ध के रूप में अवतरित हुए। पहली सदी से तीसरी सदी तक का यह काल कई तरह की धाराओं को समेट कर भारत को एक नयी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था से जोड़कर एक समृद्ध और सम्पन्न राष्ट्र की कल्पना को साकार किया।

इसी तरह नौवीं सदी में जन्मे आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत-दर्शन की पताका चिदम्बरम् से कश्मीर और काशी से केदारनाथ तक फहराई। भारतीय धार्मिक इतिहास में बौद्ध-जैन प्रभाव के पश्चात् आचार्य शंकर ने ही सनातनी व्यवस्था की नींव को मजबूती प्रदान करते हुए दक्षिण में शृंगेरी, पूर्व में गोवर्धन, पश्चिम में द्वारका और उत्तर में बद्रीनाथ मठों की स्थापना की। आदि शंकराचार्य के रूप में प्रतिष्ठित आचार्य शंकर ने ज्ञान और अध्यात्म का द्वार सबके लिए अवमुक्त करते हुए अखण्ड भारत राष्ट्र की भावात्मक एकता को साकार किया। सनातन संस्कृति की विभिन्न धाराओं ने जिस तरह से सृष्टि के सभी तत्त्वों का आह्वान किया वह एक ऐसा सर्जनात्मक पक्ष है जो किसी भी देश की पूरी परम्परा निर्मित करता है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, साहित्य, कला, संगीत के माध्यम से राष्ट्र का एक वर्चस्वी व्यक्तित्त्व उभरता है। शुक्ल यजुर्वेद के एक मंत्र को देखें- ''आ ब्राह्मन् ब्राह्मणों ब्राह्मवर्चसी जायताम्, आराष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्योऽति व्याघी महारथो जायताम्।'' तो स्पष्ट है कि सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों से किस तरह की कामना की गयी है।

शुक्ल यजुर्वेद का यह मंत्र कहता है कि- हे भगवान् हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्म तेज से युक्त हों। क्षत्रिय शूरवीर, बाण चलाने में कुशल; धेनु दूध देने वाली हो, बैल बोझा ढोने वाला हो, घोड़ा द्रुतगामी हो, नारी सुन्दर गात्र वाली, रमणीय गुणों से युक्त हो, समर में उतरने वाला योद्धा विजयी बने और युवा-वर्ग समाज की एकता में वृद्धि

करे, सभा में बैठने के योग्य हो। युवा सभ्य, शिष्ट, गुणग्राही हों, आवश्यकतानुसार मेघवृष्टि हो, फल औषधियुक्त हों। इस तरह से देखें तो वैदिक या सनातनी व्यवस्था राष्ट्र के सभी विधायक तत्त्वों को देखती है और उसके सम्यक् विकास की कल्पना करती है।

कालिदास भी इसतरह के अखण्ड, अविभाज्य भारत की कल्पना करते हैं। उन्होंने अष्टमूर्तियों की स्थापना पर बल दिया। इसी लिहाज से सूर्य, चन्द्र, यजमान, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और अग्नि के प्रतीक शिवलिंगों, देवालयों की स्थापना देश के विभिन्न इलाकों में की गयी। आधुनिक-काल में सनातनी व्यवस्था के प्रकाश पुंज महामना मदन मोहन मालवीय के आदर्श वाक्य 'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्ग नाऽपुनर्भवम्। कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।' को देखे तो "मुझे न तो राज्य की कामना है और न स्वर्ग की और न मैं पुनर्जन्म से मुक्ति चाहता हूँ। दुःख से पीड़ित प्राणियों का कष्ट दूर करने में मैं सहायक हो सकूँ, यही मेरी कामना है।" यह आदर्श वाक्य अगर सनातन संस्कृति की सोच को प्रतिबिम्बित करता है तो यह कारण समझ में आ जाता है कि सदियों से भारतीय संस्कृति के अक्षुण्ण बने रहने की वजह क्या है। कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर आधारित भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्य ऐसी सनातनी व्यवस्था पर आधारित हैं जिसमें धर्म-शास्त्र को भी स्वधर्म से जोड़कर देखने की व्यवस्था है। यहाँ तक कहा गया कि स्वधर्मानुष्ठान ही एकेश्वर, सर्वशक्तिमान की पूजा है और यही जगत् का कल्याण करती है। स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में सर्वाधिक दीर्घजीवी है तथा इसका प्रयोजन सबको अपना समझने और सबकी मंगल कामना ही है। यह निर्विवाद सांस्कृतिक एकता देश की सनातनी व्यवस्था और सभी धर्मों से मेलजोल की भावना का अप्रतिम उदाहरण है।

इस प्रकार भारत में सांस्कृतिक-भावात्मक एकता की धारा आदिकाल से लेकर आज तक अबाध रूप से प्रवाहित है। वस्तुतः भारत की राष्ट्रीय एकता का मौलिक

आधार ही सांस्कृतिक ऐक्य है।[10] भारत की भावात्मक एवं आंतरिक एकता के टिकाऊ और सर्वयुगीन होने का मूल रहस्य भी उसका आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक होना है जो सच्चे मन एवं आत्मा की स्थायी एकता है। भारत का हजारों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास दर्शाता है कि एकता का सूक्ष्म किन्तु मजबूत धागा, जो उसके जीवन की अनंत विविधताओं में से होकर जाता है, सत्ता-समूहों के जोर देने या दबाव के कारण नही बुना गया, बल्कि भविष्य-दृष्टाओं की दृष्टि, संतो की चेतना, दार्शनिकों के चिन्तन और कवि-कलाकारों की कल्पना का परिणाम है, और केवल ये ही ऐसे माध्यम हैं जिनका राष्ट्रीय एकता को व्यापक, मजबूत तथा स्थायी बनाने में उपयोग किया जा सकता है।[11]

---

10. भारत की राष्ट्रीय एकता - पृ० 121
11. एस० राधाकृष्णन-प्राक्कथन (भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, लेखक एस० आबिद हुसैन) पृ० - ix

# अध्याय-2

# संत-काव्य का परिचय

अनादिकाल से मानव बहुआयामी प्रवृत्ति का प्राणी रहा है। जीवन और मृत्यु के मध्य उसकी वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विचार-सरणि विभिन्न झंझावातों से जूझती हुई शान्ति एवं सुख की खोज में संलग्न रही है। नैतिक मूल्यों, धार्मिक आस्था एवं लोक-परलोक सम्बन्धी उसकी धारणाएँ उसे हमेशा शाश्वत मूल्यों की ओर चलने को उत्प्रेरित करती रही हैं।

भारतीय संस्कृति और उसका संत-काव्य शाश्वत मूल्यों एवं आस्था के नीड़ की खोज का एक ऐसा प्रभावी पक्ष रहा है जिसने भारतीय लोकचेतना को न केवल आदर्शों का पाठ पढ़ाया अपितु जनचेतना को रूढ़ियों, मत-मतान्तरों से ऊपर उठकर व्यापक धार्मिक विचारों के माध्यम से एक नव इतिहास की सर्जना का मार्ग प्रशस्त किया। न केवल भारत अपितु विश्व-वाङ्मय का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य वैदिक सँहिताएं हैं। तत्त्वदर्शी ऋषिकवियों के प्रत्यक्षीकृत भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति ही हमारे संत-साहित्य का मूल स्रोत है। अतः यह कहना कि भारतीय साहित्य और सभ्यता काव्य से उत्पन्न हुई, अतिशयोक्ति नहीं है।[1]

सत् और असत् को अलग-अलग करने वाला, वैयक्तिक चेतना से ऊपर उठकर सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना को सार्वभौमिक स्वरूप देने वाला साहित्य, चेतना को सार्वभौमिक स्वरूप देने वाला साहित्य ही संत-काव्य के अन्तर्गत आता है।

संत-काव्य से अभिप्राय उस साहित्य से है, जिसमें विराट सत्य का सन्देशवाहक बनने का, समष्टि का सन्देशवाहक बनने का भाव होता है। सत्य हिरण्यमय पात्र से

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग 5 पृ० 90

ढका होता है, इसलिए क्योंकि जिसका चित्त अनुभव के प्रकाश से अभिशप्त न हुआ हो, वह इस ढक्कन को उघाड़ न सके और इस सत्य का पूरा साक्षात्कार न कर सके। संत-साहित्य में वयंग्यार्थ या वक्रता का विधान कोरे चमत्कार के लिए नही होता, अपितु वह ग्राहक के चित्त और सर्जक के चित्त के तप की माँग के लिए होता है।

संतों की वानी का जो साहित्य आज उपलब्ध है, उसकी अपनी एक अलग बानगी है, जो उसे एक विलक्षण रूप प्रदान करती है। संतों की सत्य और मंगलता की प्रतीक वाणी अटपटी होते हुए भी सामाजिक एवं राष्ट्रीय मंगल के प्रति उनकी तीव्र उत्कंठा और उसके प्रति जनचेतना को उत्प्रेरित करने के महान् लक्ष्य पर आधारित है। संत-काव्य के अध्ययन के प्रयोजन का एक पक्ष यह भी है कि इसमें मूल्यों की प्रासंगिकता की जांच केवल उस युग की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही है अपितु समसामयिक सन्दर्भों में भी उसका महत्त्व उत्प्रेरक का कार्य करता रहा है। संतों की वाणी देशातीत और युगातीत होती है, पर देश और युग का पहले होकर उनका अतिक्रमण करता है। यह अतिक्रमण भी संभवतः इसी लिए होता है, जिससे वह अपने देश और अपने युग को और अधिक दीप्तिमान वना सके।

वैदिक साहित्य में कवि शब्द गौरवपूर्ण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परमात्मा को कवि कहा गया है और इस सम्पूर्ण व्यक्त जगत् को 'देवस्यकाव्यम्' देवता का काव्य कहा गया है। कवि काव्य की रचना आनन्द-हेतु करता है। परात्पर शक्ति से ब्रह्म ने भी संसार की रचना आनन्द के लिए की थी। आनन्द से ही यह सब कुछ दृश्यमान जगत् पैदा हुआ और आनन्द में ही लीन हो जाता है। वैदिक ऋषियों की सृष्टि में प्रकृति और मनुष्य, जड़ और चेतन, आनन्द की अभिव्यक्ति मात्र है।। यह जगत् मानव का प्रतिद्वन्दी नही, पूरक है। प्रकृति की नित्यनूतन शोभा मनुष्य को प्रेरणा देती है ओर प्रेरणा पाती है। इस आनन्द से मुखर-काव्य के तत्त्व-चिन्तन का जो क्रम पैदा होता है, वह निश्चित् रूपसे दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को

मधुमय बनाने वाले तत्त्व की खोज से शुरू होता है। प्रकृति और मनुष्य दोनों को मंगलमय कर्म की प्रेरणा देने वाला अद्वैत तत्त्व ही रस है, विरुद्ध दिखने वाले पदार्थों में एकता और सामंजस्य खोजना ही संत-साहित्य का ध्येय और विशेषता रही है।

भारतीय धर्म और संत-साधना किसी पैगम्बर की वाणियों से पैदा नहीं हुई और न ही किसी धर्मयाजक सम्प्रदाय से संघटित है और न ही मठ-मंदिर या चर्च से प्रचारित हुई। वह आनन्द के उल्लास से मुखरित काव्य की देन है। वह काव्य मानव-चित्त के अतल गाम्भीर्य से उद्भूत होने के कारण सार्वजनीन और सार्वकालिक है। वैदिक साहित्य के बाद महर्षि वाल्मीकि से प्रारम्भ भारतीय काव्य की धारा को परवर्ती संत-कवियों ने आगे बढ़ाया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के कवियों से होती हुई लोकमंगल की यह काव्य-धारा मध्ययुग के संत-कवियों के पास पहुँची, जिन्होंने अपनी साहित्य साधना द्वारा पूर्वाचार्यों द्वारा पोषित परिपाटी को एक नये तेवर के साथ आगे वढ़ाया। भाषा, संस्कार, विचार और तत्कालीन स्थिति विशेष को दृष्टिगत रखते हुए उन संत-कवियों ने जीवन की विकृतियों, रागों के दंश, एवं मनोवृत्तियों के संकुचन पर अपने सीधे-सपाट वाणियों के द्वारा सत्य को सामने लाने का श्लाघनीय प्रयास किया।

साहित्य युग-सापेक्ष होता है। उस पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है। संतों के सम्बन्ध में भी यही बात थी। उन्होनें अपने युग के, पतन के कगार पर खड़े समाज को बार-बार चिताया कि वे आपस में धर्म-जाति के भेदभाव से ऊपर उठकर मनुष्य-मात्र से प्रेम एवं बंधुत्त्व स्थापित करे। हिन्दुओं में जातिवाद का जहर ब्राह्मण फैला रहे थे और धर्म के नामपर कर्मकाण्डों का जोर, तज्जन्य अनेक जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव, योगी, जती, हठी सन्यासियों की जमात से जनता दिग्भ्रमित थी। पुरोहिती भेदभाव का कडुआ

जहरीला घूट पीना पड़ता था शूद्रो, अस्पृश्य जातियों एवं स्त्रियों को, नारी तो अनेक कुप्रथाओं, कुरीतियों का शिकार थी। ऐसे में राजनीतिक परिस्थितियों ने, जो इस्लाम की भारत में सत्ता स्थापित होने के साथ पैदा हुई और मुगलकाल तक, प्रभावित किया। भक्ति की मध्यकालीन धारा को और तेज प्रवाहित करने में इस्लामिक प्रभाव–राजनीतिक परिस्थिति-जन्य अन्य प्रभाव–ने महती भूमिका निभायी।

संत-साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशेष हाथ रहा है। उत्तर-भारत में संत-सम्प्रदाय का अविर्भावकाल विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी है।[2] राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त अव्यवस्थित स्थिति उस समय उत्तर-भारत की थी। तैमूर लंग के आक्रमण ने दिल्ली को जर्जर कर दिया। इस समय जो भी राजवंश उठे वे सब तिरोहित हो गये और उस समय की सारी की सारी राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियां अस्त- व्यस्त हो गयी, उनके स्वरूप परिवर्तित हो गये।

पन्द्रहवीं शताब्दी में सोलह शासकों ने दिल्ली के तख्त को हासिल करने के लिए युद्ध किया। तुगलक, सैयद, और लोदी राजवंशों ने उत्तर-भारत पर शासन किया, शासन-व्यवस्था को सुधारने के बजाय राज्य-लिप्सा और धर्म-प्रचार के लिए वे निरन्तर युद्ध करते रहे। इन युद्धों का परिणाम जनता को भोगना पड़ा; अतएव यही घोर असंतोष का कारण बना। जनता का राजा से विश्वास उठने लगा, वह धर्म की ओर उन्मुख हुई। शासको का एक मात्र उद्‌देश्य दिल्ली का तख्त रह गया चाहे वह लाशों के ढेर लगाने से ही क्यों न मिले। शासक-वर्ग जनता की सहानुभूति भी खो चुके थे। राज्यो के उत्थान-पतन को जनता मूक दर्शक की भाँति देखती रही।

मुगल-सम्राट् अकबर के पूर्व और उसके बाद की राजनीतिक स्थिति अव्यवस्था और अति धार्मिक कट्टरता तथा हिंसात्मक प्रवृत्ति की रही। अधिकांश मुसलमान शासको ने धर्म प्रचार के लिए कत्लेआम किया, हिन्दू मन्दिरों को लूटा, मूर्तियों को तोड़ा और अपार सम्पत्ति को लूटा। इसके पीछे गाजी और मुजाहिद

---

2. सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा–हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड पृ० 195

की पदवी पाने की लिप्सा भी थी। इसी की शुरूआत तैमूर लंग ने की और वह कालान्तर में सभी शासकों के लिए आदर्श वन गयी।

मुस्लिम शासकों की धार्मिक कट्टरता के परिणाम-स्वरूप भारतीय धर्मों में जागरूकता आयी, उन्हें व्यवस्थित होने के लिए प्रेरित किया। दक्षिण में भक्तिकी जो लहर उठी वह उत्तर-भारत में फैली, आचार्यो के द्वारा आरम्भ आन्दोलन का स्थान जन-कवियों ने ले लिया। धर्म और समाज को व्यवस्थित करने के लिए जन-भाषा में गीत गाने लगे।

दक्षिण-भारत से उपजी द्राविणी भक्ति का प्रचार रामानन्द ने किया कबीर और कबीर पंथी कवियों ने भक्ति-भावना का प्रचार सीधी-सरल भाषा में करके भक्ति-धारा को प्रवाहित किया। मूर्तियों को टूटने और मन्दिरों के विखण्डित होने के कारण जनता का विश्वास टूटने लगा था; यही कारण है कि नामदेव, कबीर जैसे संत-कवियों ने मूर्तिपूजा और बाह्य आडम्बरों का विरोध किया। संत-सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक स्वरूप को पुराने स्थूल रूप से अलग रखा अपने आराध्य को रघुनाथ, गोपाल आदि नामों से पुकारते हुए भी अवतारो और मूर्ति-पूजा का विरोध किया। संत कबीर की वाणी में परम्पराओं, रूढ़ियों के विरोध का स्वर अधिक तीखा है। कबीर ने हिन्दू और मुसलमानो को समान रूप से फट्कारा।

इस भाँति यह स्पष्ट है कि संत-काव्य के विकास में राजनीतिक परिस्थितियों का काफी प्रभाव है।

## (क) संत : लक्षण एवं विशिष्टता :

हिन्दी भाषा में संत शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है– सज्जन, साधु, भक्त, सत्पुरुष आदि। संत शब्द तत्त्वतः हिन्दी में एक वचन के रूप में होता है। परन्तु संस्कृत में यही शब्द सन् का बहुवचन है। संत शब्द भी अस् भुवि (अस्=

होना) धातु से बने हुये सत् का पुल्लिग रूप है जो शतृ प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है।

डॉ पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के अनुसार "संत शब्द 'सत्' का बहुवचन हो सकता है जिसका प्रयोग हिन्दी भाषा में एक वचन में होता है। उनकी दूसरी मान्यता है कि यह 'शान्त' शब्द का अपभ्रंश हो सकता है।"[3] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "संत शब्द का मौलिक अर्थ-शुद्ध अस्तित्व" का ही द्योतक है इसका प्रयोग भी इसीकारण उस नित्य वस्तु या परमतत्त्व के लिए अपेक्षित होगा जिसका कभी भी नाश नही होता।[4] गीता में संत शब्द को सद्भाव और साधुभाव दोनों अर्थो का पर्याय माना गया है।

भक्ति आन्दोलन के साथ-साथ इस शब्द का सम्बन्ध ऐसे व्यक्तित्त्वों से जुड़ गया जो आत्म-शुद्धि के सहारे ईश्वर की खोज में लगे हुये थे। संत नामदेव के अनुसार संत और भक्त दोनों एक है उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इस परम्परा का समर्थन करते हुये परवर्ती सभी निर्गुण-कवियों ने इसका प्रयोग 'साधु' एवं 'भक्त जन' के लिए किया है। मध्य-काल में सभी साधकों के नाम से पूर्व संत शब्द जोड़ा जाने लगा। इनमें नानक, दादुदयाल, सुन्दरदास, मलूकदास, भीखासाहब, तुलसी साहब, चरणदास, सहजोबाई, पलटूदास आदि का नाम लिया जा सकता है।

इन संतो नें संत शब्द का प्रयोग साधु महात्मा, साधक, ज्ञानी, भक्त आदि के लिए किया है। हिन्दी की भक्ति कालीन ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों को संत या संतकवि कहा जाता है। इस शाखा की परम्परा में इसके आदि कवि जयदेव, नामदेव, कबीर, रैदास को संस्थापक के रूप में महत्ता मिली। इस शाखा में उन्ही

---

3. डॉ पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल– योग प्रवाह, पृ० 150
4 आ. परशुराम चतुर्वेदी– उत्तरी-भारत की संतपरम्परा, पृ० 4

निर्गुणिया संतों को महत्त्व दिया जाता है जिन्होंने आरम्भ में संतमत के सिद्धान्तों को भूमिका प्रदान की या आगे जाकर इस मत के अर्न्तगत किसी पन्थ या सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जैसा कि परशुराम चर्तुवेदी लिखते है कि "इन संतों की परम्परा में उन्ही संतों को गृहीत किया जाता है जो संत कबीरदास द्वारा प्रवर्तित निगुर्णपंथी विचारधारा को स्वीकार करते हुये इस पंथ के अन्तर्गत किसी विशेषमत या सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुये। वे सभी संत-कवियों की कोटि में आते हैं।"[5] पुनः चतुर्वेदी लिखते हैं- "संतशब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उन भक्तों के लिए किया गया था, जो विट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या प्रचारक थे। इनकी भक्ति निर्गुण थी इन भक्तों में ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, और तुकाराम का नाम लिया जाता है। बाद में इन्ही भक्तो के समान सभी गुणों में साम्य होने के फलस्वरुप उत्तरी-भारत के कबीरदास और उनके अनुयायी अन्य कवियों को भी संत कहा जाने लगा।"[6]

साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों एवं साधना के आधार पर उस धारा के कवियों को भक्त कवियों-सूर, तुलसी एवं मीरा आदि से अलग समझा जाने लगा। वास्तव में संत कवि और भक्त कवि ये दो विभाजन स्वयं स्पष्ट है। अब संत शब्द निर्गुणियों के लिए प्रायः रूढ सा हो गया है। इसके साथ सगुणियों के लिए भक्त की संज्ञा प्रदान की जाती है। वस्तुतः निर्गुण समुदाय के साधुओं के लिये ही संत शब्द का प्रयोग उपयुक्त होगा।[7]

## (ख) संत-काव्य :

संत कवि मूलतः दार्शनिक नहीं थे। उनमें दर्शन की तलाश करना उनके प्रति अन्याय होगा। उनकी वानियों में दार्शनिक तत्त्वों का अनायास निरुपण

---

5. आचार्य परशुराम चर्तुवेदी - संतकाव्य, पृ० 14
6. आ0 परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी-भारत की संत परम्परा पृ07
7. डॉ0 व्रजलाल वर्मा - संत कवि रज्जब (सम्प्रदाय और सहित्य) पृ० 32

अवश्य दिखायी देता है। संत-काव्य में वाटिका का श्रम-साध्य कृत्रिम सौन्दर्य नहीं, उसमे वनराजि की प्रकृति-श्री है। इस काव्य में जन-जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति निरलंकृत सीधी-सादी भाषा में है। पग-पग पर स्वाधीन चिन्तन प्रतिफलित हुआ है। संत-साहित्य साधना, लोकपक्ष तथा काव्य वैभव-सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। नाथ-संप्रदाय की पद्धति शास्त्रीय थी और साधना व्यक्तिगत थी, किन्तु संत-सम्प्रदाय की पद्धति स्वतंत्र और साधना सामाजिक थी। संत-कवियों की विचार-सरणि निजी अनुभूतियों पर आधारित है। अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की कोमलता है। प्रायः अधिकांश संत अशिक्षित थे परन्तु बहुश्रुत थे। घूम-घूमकर अपनी बात कहते थे- 'कागद लेखी' से जादा 'आंखिन देखी' पर विश्वास करते थे। निजी अनुभूतियों के बल पर जो भी उचित एवं विश्वसनीय लगा, वह उनकी वाणी से निकल पड़ा आम आदमी के कल्याणार्थ। कबीर की यह घोषणा प्रायः सभी संतों पर चरितार्थ होती है (सुन्दर को छोड़कर)।

"करत विचार मन ही मन उपजी नाँ कहीं गया ना आया।"[8]

वस्तुतः संत-काव्य देश की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विरचित भावनात्मक एवं अनुभूतिप्रवण जनकाव्य है। इसकी प्रेरणा का स्रोत था सामान्य मानव का हित-साधन। फलस्वरूप समाज में लिप्त न होकर भी संत-कवियों ने समाज-कल्याण का मार्ग अपनाया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषित और प्रताड़ित मानव की समस्त प्रवृत्तियों, परिस्थितियों तथा भावनाओं का गम्भीर विचारयुक्त यथातथ्य चित्रण किया। इस प्रकार संत-साहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जोखा-मात्र नही है, उसमें तत्कालीन जनजीवन का प्रतिविम्ब भी विद्यमान है।[9] संत-साहित्य भावात्मक एवं अनुभूतिप्रवण है। उसमें किसी शास्त्र अथवा सिद्धान्त के प्रति आग्रह व्यक्त नहीं

---

8. कबीर ग्रन्थावली-पद 63 पृ० 96
9. (सम्पादक) डॉ0 नगेन्द्र -हिन्दी साहित्य का इतिहास (निर्गुण भक्ति काव्य) पृ० 157

हुआ है। यह बात साधना क्षेत्र और साहित्य-जगत् दोनों ही में समान रूप से लक्षित होती हैं। निर्गुण काव्यधारा के संत कवि सामान्यतया समाज के निम्न-वर्गों में पैदा हुए थे। वे साधन-रहित माहौल में पैदा हुए तथा साहित्य, भाषा, व्याकरण आदि के अनुशीलन से वंचित रहे। अतः उनकी काव्य-भाषा में परिष्कार, परिमार्जन, परिनिष्ठता और साहित्यिकता नहीं है। इन संतों का भाषादर्श सहजता और सरलता की ओर उन्मुख है। वास्तव में संत-काव्य का मूल लक्ष्य था सत्य का निरूपण, सत्य का विवेचन और सत्य का प्रचार-प्रसार। काव्य-सौष्ठव की ओर उनका ध्यान ही न था और कवि-कर्म की उन्होने स्वयमेव आलोचना की । कबीर ने कहा है कि ''जिनको हम (साधरणतः) कवि कह दिया करते हैं, वे भी उसी प्रकार मर जाया करते हैं जिस प्रकार कोई कापड़ी साधु व्यर्थ की केदार यात्रा करके मर जाया करता है। इसमें किसी को भी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नही हो पाता।[10] संत रैदास ने भी यही वात कही-

हम  बड़ कुलीन हम पण्डित, हम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी, गुणी, सूर हम दाता, याहु कहे मति नासी।।[11]

कबीर ने स्वयं कहा कि उनकी रचनाओं को मात्र गीत न समझा जाय, इनमें उनका ब्रह्म-विचार है-

'तुम्ह जिनि जानों गीत है, यहुनिज ब्रह्म-विचार।
केवल कह समुझाइया, आतम  साधन सार रे।।'

यही प्रवृत्ति मराठी संतों में भी पायी जाती है। परन्तु केवल इसी आधार पर किसी रचना को उत्कृष्ट-विकृष्ट या साहित्यिक-असाहित्यिक नही ठहराया जा सकता है। संत-काव्य के वारे में ऐसे प्रश्न बहुधा ऐसे लोगों द्वारा उठाये जाते हैं

---

10. (सम्पादक) डॉ0 नगेन्द्र -हिन्दी साहित्य का इतिहास (भक्ति-काल की पूर्व पीठिका) पृ० 123
11. (सम्पादक) डॉ0 नगेन्द्र -हिन्दी साहित्य का इतिहास ( भक्ति-काल की पूर्व पीठिका) पृ० 123

जिन्होंने परम्परा-विशेष को ही 'इति' अथवा शाश्वत स्वीकार कर लिया है। वास्तव में स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही वह कसौटी हो सकती है जो किसी रचना को साहित्यिक अथवा असाहित्यिक ठहरा सके। इसके अभाव में किसी कोरी काव्यशास्त्रीय परम्परा के अभ्यास-गत निर्वाह द्वारा शैलीगत प्रभाव उत्पन्न कर वह श्रोता अथवा पाठक को भले ही चमत्कृत कर दे, किन्तु सच्चे अर्थो में उसे काव्य की कोटि में नही रखा जा सकता।[12] डॉ0 रामकुमार वर्मा ने कबीर को महाकवि सिद्ध करते हुए जो सम्मति दी है, वह प्रायः अन्य सभी निर्गुण संतों के बारे में भी कही जा सकती है। 'कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य-रचना नही की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छंद और अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है।[13] वस्तुतः संत-कवियों ने अपनी वाणियों के द्वारा महान् संदेश दिया है जिसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। संत-काव्य सही अर्थों में जनकाव्य है। संतकाव्य की लोक-प्रियता उसके काव्य की प्रचुरता पर निर्भर नहीं वह जनसाधारण के अंग बने कवियों (वा कान्तिदर्शी व्यक्तियों) की स्वानुभूति की यथार्थ अभिव्यक्ति है और उसकी भाषा जनसाधारण की भाषा है। यदि काव्य विचारों और भावनाओं की प्रभावपूर्ण सरस अभिव्यक्ति है, तो इसमें कोई संदेह नही होना चाहिए कि इन संतों की वाणियों में इसकी कोई कमी नही है। अखण्ड एवं प्रामाणिक अनुभूति के सर्वत्र दर्शन होते है। उन्होंने स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरों को भी इसमें भागीदार बनाने में सफलता प्राप्त की। वैसे भी किसी रचना के साहित्यिक-असाहित्यिक होने का प्रश्न जितना स्तर-भेद के कारण है, उतना शैलीगत नहीं। ऐसी दशा में संत-साहित्य की साहित्यिकता को

---

12. डॉ० नगेन्द्र (संपादक)-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 125
13. डॉ0 राम कुमार वर्मा - हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० 266

परखते समय किसी काव्यशास्त्रीय शैलीगत विशेषता-मात्र को ही कसौटी नही मान लेना चाहिए, अपितु उसे संदर्भगत विशिष्टताओं सहित व्यापक अर्थो में ग्रहण करना चाहिए।

## (ग) संत-काव्य के दार्शनिक-सांस्कृतिक आधार :

निर्गुण संत-विचारधारा के विश्लेषण करने पर पता चलता है कि निर्गुण संत काव्यधारा के दार्शनिक-सांस्कृतिक आधार कई हैं। इनमें उपनिषद्, शंकराचार्य का अद्वैत-सिद्धान्त, नाथ-पंथ, इस्लाम धर्म तथा सूफी दर्शन मुख्य हैं। संत-कवियों का चिन्तन, जीवन-दर्शन और उनकी काव्य-धारा उपनिषदों से अनेकधा प्रभावित है क्योंकि इन संतों ने ब्रह्म, जीव, जगत् और माया सम्बन्धी विचारों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया जिस रूप में ये उपनिषदों में थे। ब्रह्म सम्बन्धी उपमानों और अप्रस्तुत विधानों का भी, उसके स्वरूप उद्घाटन में उपनिषदों की तरह, प्रयोग किया।

संतो की विवर्त-भावना, प्रतिबिम्ब-भावना, प्रणवभावना, साधना-पक्ष, भक्तिपद्धति प्रभृति पर शंकराचार्य की अद्वैतवादी विचारधारा का व्यापक प्रभाव दिखायी देता है। शंकर के समान ही निर्गुण संत-कवि भी मानते हैं कि जीव विशुद्ध ब्रह्म तत्त्व है और आत्मा-परमात्मा माया के परदे के द्वारा अलग-अलग भिन्न दिखायी देतें हैं। जब ज्ञान से माया अर्थात अविद्या-जनित उपाधि विनष्ट हो जाती है तब अभेदानुभूति- ''अहं ब्रह्मास्मि'' की अनुभूति होती है। संतों की आत्मा की सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वरूपता एवं सर्वात्म-सम्बन्धी भावनाएँ शंकराचार्य से मेल खाती हैं। संत-परम्परा में आत्मा की अखण्डता, एकरसता, अद्वैत-रूपता, अकथनीयता आदि का प्रतिपादन भी शांकर-सिद्धान्त के अनुरूप है। जीव-ब्रह्म में

कोई भेद नही है, पूर्ण अद्वैतवाद है। 'दूर किया संदेह सब, जीव ब्रह्म नहीं भिन्न'[14]। सब कुछ ब्रह्म ही है। कबीर "पानी जमकर हिम बन जाता है ओर पिघलकर पानी ही हो जाता है। मूलत· एक ही तत्त्व है, ऐसा ही ब्रह्म :

पाणी ही ते हिमभया, हिम ह्वै गया विलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ।।[15]

डॉ0 त्रिगुणायत का अभिमत है कि संत लोग शंकर की माया सम्बन्धी धारणा से भी प्रभावित होते हैं। वे लोग शंकर के सदृश ही माया को मिथ्या रूप मानते है। संत कबीर का 'सत रज तम ते कीन्ही माया' तथा सुन्दर दास का 'नाम रूप जहाँ लगि, मिथ्या, माया मानिए' इसके प्रमाण मे रखा जा सकता है। अज्ञानी व्यक्ति माया के चक्कर में पड़कर सत्य को भुला देता है जबकि ज्ञानी ऐसा नहीं करते। सहजोबाई कहती हैं :

अज्ञानी जानत नही, लिप्त भया करि भोग।
ज्ञानी तो दृष्टा भये, सहजों ख़ुशी न सोग।।[16]

जगत् को माया तथा मिथ्या बताती हुई दयाबाई कहती हैं-

जैसे मोती ओंस को, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एक में, दया प्रभु गुरधार।।[17]

कबीर तो इन सभी से बहुत पहले ही संसार को 'विनस जाइ कागद की पुड़िया। जब लगि पवन तव लगउड़िया।।– कहकर नश्वर बता चुके। कबीर एवं अन्य कवियों पर शंकर-अद्वैत का प्रभाव का मतलब यह नही है कि संत उनके अनुकरणकर्ता भर थे अपितु संतों ने सहज-बोध और स्वानुभूति से उसे और निखारा।

---

14. सुन्दरदास, सं0 ग्रा0 सं0 भाग-1, पृ० 107
15. संपादक श्याम सुन्दर दास– कबीर ग्रन्थावली पृ० 13
16. सहजोबाई- सहजप्रकाश, दो0 4, पृ० 36

संतकाव्य पर सिद्धों एवं नाथों का भी प्रचुर प्रभाव पड़ा। वज्रयानी सिद्धों ने जीवन के प्रति सहजानुभूति को प्रधानता दी। सिद्धों की संख्या 84 है, जिनमें सरहपा, लुइपा, सवरपा, कण्पा आदि प्रमुख हैं। ये सभी प्रकार के बाह्यानुष्ठानों और अंधविश्वासों का विरोध करते हैं तथा चित्त-शुद्धि, गुरुमहिमा, समरसता, सरलता पर जोर देते हैं। शरीर ही सभी साधनाओं का मूल माना। तिल्लोपाद कहता है कि सहज से चित्त विशुद्ध करो। इस जन्म में मोक्ष और सिद्धि प्राप्त करोगे। तीर्थ और तपोवन का सेवन मत करों। बाह्य-भाग पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।

''यदि नग्न फिरने से योग होता तो फिर वन के सब मृगों को मुक्ति मिल जाती, यदि मूंड मुड़ाने से मुक्ति मिलती तो सब भेड़ों को मुक्ति मिल गयी होती।'' दोनों स्वरों में अन्तर केवल यह है कि पहला कुछ कोमल है जबकि दूसरा अपेक्षाकृत अधिक प्रखर है। सहज, गुरू-उपदेश, शून्य, निरंजन आदि के विचार कबीर ने सिद्धों की विचार-धारा से ग्रहण किये हैं। शैली की दृष्टि में भी संतों पर प्रभाव पड़ा, भले ही नाथों के द्वारा आया है।

*सिद्ध सरहपा-*''जहि मण पवणणसचरई, रवि शशिणाह पवेस।
तहि वढ़ चित्त विसाम करू सरहें कहिअ उएस।।''

के इस छन्द का प्रभाव कबीर पर-

जिहि वन सिंह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिनस का गमि नही, तहाँ कबीर रहया ल्यौं लाइ।।

सिद्ध सरहपा- पंडिअ सअल, सत्य वक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध बसंत ण जाणइ ।।[18]

---

17. दयाबाई- दयाबोध (बैराग का अंग) दो0,4 पृ०7
18. हिन्दी काव्यधारा पृ० 10, छन्द 68

कबीर-पढ़ि-पढ़ि वेद वषाणें। भीतरि हूती बसत न जाणै।।[19]

संत-काव्य एवं दर्शन पर नाथों का भी प्रचुर प्रभाव है। संत-साधना में नाथपन्थी साधना-पद्धति के प्रभाव स्वरूप योग-प्रक्रिया की प्रधानता है जो सिद्धों की वाममार्गी भोगप्रधान योग-साधना की प्रतिक्रिया-स्वरूप आरम्भ हुई। नाथ सम्प्रदाय की अचारनिष्ठा, शून्यवाद, गुरूप्रतिष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अन्धविश्वासों के प्रति कठोरता, कर्मकाण्ड की निरर्थकता, आत्मा-जीव सम्बन्धी मान्यताओं से संतकवि अनेकशः प्रभावित हुए हैं। डॉ0 रामकुमार वर्मा के अनुसार- नाथपन्थ से ही भक्ति-काल में संतमत का विकास हुआ था, जिसके प्रथम कवि कबीर थे। तन्त्र साधना का भी प्रभाव पड़ा। कबीर भले "तंत्र न जानू, मंत्र न जानूं, जानू सुन्दर काया" कहें, मगर उनके बाद अवतरित विकसित सम्प्रदायों में तंत्र-साधना का प्रभाव प्रमुख रहा। मलूक-पंथ और निरंजनी सम्प्रदाय में इसका प्रभाव पड़ा।

संतो की एकेश्वरवादी विचारधारा इस्लाम से प्रभावित है। इस्लाम की देन निषेधात्मक अधिक रही विधेयात्मक कम।[20] एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः कबीर आदि अनेक संत-कवियों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को उक्त उपदेश दिया,फलतः लोगों को बहुदेवोपासना के अभिशाप से मुक्ति मिली। संत-कवियों में दाम्पत्य प्रतीकों की उपलब्धता सूफी प्रेम की मादकता के प्रभाव का परिणत फल है। सूफियों ने संतों की अभिव्यञजना शैली को भी प्रभावित किया। सूफी मत ने धार्मिक कटुता दूर करके प्रेम, सहिष्णुता, उदारता, मधुरता और साम्प्रदायिक सौहार्द की भावना का प्रचार-प्रसार किया, लेकिन ऐसा ज्ञानमार्गी संतों के सहयोग से ही सम्भव हुआ। क्योंकि संतों ने निगम, आगम, पुराण आदि को महत्त्वहीन बताकर दोनों सम्प्रदायों के मेलमिलाप का रास्ता साफ

---

19 कबीर ग्रन्थावली, पृ० 102 पद 42

20 डॉ0 नगेन्द्र (सं0)– हि०सा०इ०, पृ०138

किया। किन्तु बौद्धों का दुःखवाद, शून्यवाद, वज्रयानियों की तांत्रिक साधना, सिद्धों की गूढ़ोंक्तियों के रूप में उलटबासियॉ, नाथसम्प्रदाय की योग-साधना तथा काव्य साधाना किसी-न-किसी रूप में संत-काव्य में समाहित हुई।[21] संतों द्वारा की गयी वैदिक साहित्य, वैदिक परम्पराओं एवं बाह्याडम्बरों की आलोचना में बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है। महाराष्ट्र देश में प्रचलित विट्ठल-भक्ति-सम्प्रदाय की मानसिक भक्ति, नामस्मरण, प्रेमासक्ति और रहस्यमयता संत-काव्य में दिखायी देती है। कबीर तो विट्ठल को आराध्य देव तक मानते हैं। नामदेव से कबीर प्रभावित हैं।

उत्तर-भारत के योग-पात्र में मध्ययुग में निर्गुण-भक्ति का बीज सर्वप्रथम रामानन्द ने ही डाला। आप से ही प्रेरणा पाकर कबीर ने साधना और भक्ति को सभी के लिए सुलभ बना दिया। ''रामानन्द ने साधना और भक्ति के द्वार शूद्रों एवं निम्न-वर्गों के लिए खोल दिये। भक्ति में प्रेम तत्त्व को समाविष्ट कर उन्होंने उसे और भी सुसाध्य एवं स्पृहणीय स्वरूप प्रदान किया। रामानन्द के शिष्यों में कबीर साहब, रविदास, (रैदास) अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। यह रामानन्द के प्रभाव का ही फल था कि भावी निर्गुण संत-कवि एवं कवयित्रियों में जातिवाद का प्रश्न ही समाप्तप्राय हो गया।

निःसंदेह संत-काव्य इन पूर्वकथित अनेक विचारधाराओं एवं सम्प्रदायों से प्रभावित हुआ है, किन्तु अन्धानुकरण कहीं नहीं किया।समयानुसार उन्होंने अनुभव से यथोचित सुधार किये। सहजानुभूति से ही ईश्वर की प्राप्त हो सकती है। 'कहे सुने' 'पतियाने' (विश्वास करने) वाले नहीं थे, स्वयं उसका प्रत्यक्ष करके ही आत्मानुभूति के द्वारा उसे स्वीकारते या नकारते थे। संत-साहित्य केवल आध्यात्मिक अनुभूतियों, धार्मिक रूढ़ियों, दार्शनिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का अन्धानुकरण न था, अपितु अपनी समन्वयवादी दृष्टि से सार-सार को ग्रहण किया

---

21. डॉ0 नगेन्द्र (सम्पादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 139

और अपने अनुभव की प्रामाणिकता पर कसा। दरअसल, उनकी प्रेरणा का श्रोत था- जनहित साधना ।

## (घ) संतकाव्य : सामान्य प्रवृत्तियाँ :

निर्गुण-भक्ति का मूल तत्त्व निर्गुण-सगुण से परे अनादि, अनन्त, अनाम, अजात ब्रह्म का नामजप करना है। नाम-जप समस्त संशयो और बन्धनों को नष्ट कर देता है। नाम ही भक्ति और मुक्ति का दाता है। इसका दूसरा मूल तत्त्व मानसिक भक्ति है जो (भक्ति) आडम्बर-विहीन होती है। इसमें वैष्णवों की नवधा भक्ति (पाद-सेवन, अर्चन आदि) का कर्मकाण्ड-सम्मत एवं परम्परा-समर्थित रूप नहीं है। निर्गुण भक्ति-पद्धति का तीसरा मूल तत्त्व है- प्रेम के द्वारा कर्मकाण्डीय जटिलताओं को दूर करना ।कबीर के शब्दों में प्रेममयी भक्ति की अनुभूति देखें :

हरिरस पिया जानिये, जे कबहूं न जाय खुमार।
मैमता घूमत फिरै नाहीं तन की सार।।

चौथा सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है मनुष्य को एक ऐसे विश्वव्यापी धर्म के सूत्रों में निबद्ध करना जहाँ जाति, वर्ग और वर्ण सम्बन्धी भेद-भाव न हो। साधना का यह द्वार हिन्दू-मुस्लिम, ऊँच-नीच सबके लिए खुला हुआ था। निर्गुण भक्ति का पांचवा तत्त्व है-सहज साधना। यह मार्ग सर्वथा नया और क्रान्तिकारी था जिसने धार्मिक जीवन की दुरुहताओं को सदैव के लिए हटा दिया।[22] संत-सम्प्रदाय वस्तुतः विश्व सम्प्रदाय है और उसका धर्म विश्व-धर्म है, जिसका मूलाधार है हृदय की पवित्रता। इसके लिए सारी इच्छाएँ, द्वेष और वासनाएँ समाप्त करना जरूरी है। और ऐसा सद्‌गुरु की कृपा से ही किया जा सकता है। संत-मत में सद्‌गुरु को ब्रह्म से भी महान् बताया गया है। कबीर कहते हैं :

---

22 डॉ0 नगेन्द्र (सम्पादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 139

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय।।

संत-काव्य में निर्गुण ब्रह्म की सहज भाव से उपासना बिना किसी जाति-धर्म की श्रेष्ठता को मानते हुए, कोई भी पवित्र हृदय-व्यक्ति कर सकता है, क्योंकि ''जांति-पांति पूछेन कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।।'' सभी 'साईं के जीव है'। सभी की एकसी उत्पत्ति एवं एक सा सभी का खून। वास्तव में यदि समदृष्टि से देखें तो सभी समान हैं :

'आपा पर समचीन्हिये, तव दीषै सर्व समान' (कबीर)। संतकाव्य में रुढ़ियों, मिथ्या-आडम्बरों, स्वर्ग-नर्क, बैकुण्ठ-वहिस्त, मन्दिर-मस्जिद, वजू-नमाज-कीर्तन आदि सभी बाह्याचारों का विरोध किया गया, क्योंकि ये सब अज्ञानता पर आधारित है और आम आदमी का इनसे भला होने वाला नहीं। धर्म के ठेकेदार आम लोंगों को बातों से भटकाते हैं 'बातनि ही बैकुण्ठ बखानै'। अतः इनके कहने पर विश्वास नहीं करना चाहिए जब तक खुद न अनुभूति कर लो उसकी। उसे खोजने के लिए बाहर जाने की जरूरत ही नहीं, वह तो दिल में बसता है। संत-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर के 'सबद' में :

'अल्ला राम जिऊँ तेरै नांईं। बंदे ऊपरि मिहरि करौ मेरे सांई।।'

क्या लै मूडी भुइं सौ मारे, क्या जल देहन्हवाये।
खून करै मिसकीन कहावै, अवगुन रहै छिपाए।।

क्या ऊजू जप मंजन कीए क्या मसीति सिरु नाये।
दिल महिं कपट निवाज गुजारै, क्या हज कावै जाएं।।

ब्राह्मन ग्यारसि करै चौबीसौ, काजी मांह रमजानां।
ग्यारह मास कहौ क्यूं खाली एकहि मांहि नियांना।

जोरे खुदाइ मसीति वसतु है और मुलुक किस केरा।
तीरथि मूरति राम निवासी, दुहुमहि किनहु न हेरा।।

पूरब दिसा हरी का बासा, पच्छिम अलह मुकामां।
दिल महिं खोजि, दिलै दिलि खोजहु, इहंई रहीमां रामा।

जेते औरति मरद उपाने, सोसभ रूप तुम्हारा ।
कबीर पुंगरा अलह राम का, साइ गुरु पीर हमारा।।[23]

संत-साहित्य पर सूफी प्रेम की मादकता ने अपना प्रभाव डाला। संतों की रहस्यवादिता पर विट्ठल-सम्प्रदाय के साथ-साथ सूफी-प्रणयाशक्ति भी अपना प्रभाव डाली। दाम्पत्य प्रतीकों पर प्रभाव है किन्तु संतों के प्रतीक उनसे भिंन्न अर्थ रखते है। वास्तव में संत-काव्य में सूफी-प्रवृत्ति-मिश्रित भारतीय रहस्यवाद है। 'संतों का रहस्यवाद शंकर के अद्वैत-वाद से प्रभावित है'।[24]

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत कथौं गयानी।

कबीर की उक्त साखी में शांकर अद्वेतवाद का प्रभाव है तो सूफियो का 'नूरवाद', जो सृष्टि का मूलाधार है, वह भी अन्यत्र देखा जा सकता है और सौन्दर्य-भावना पर भी, इस प्रभाव की व्याप्ति है।

अल्ला एकै नूर उपजाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थे सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा ।।[25]

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियाराकन्त।।[26]

विरह की तीव्रानुभूति सूफी-साधना का मेरू-दण्ड ही है। संतों में भी यह बात मिलती है। जहाँ विरह को सुल्तान तक कहा गया। दादू का मन्तव्य है-

---

23 कबीर वाङ्मय खण्ड-2 पृ० 28-29 सबद-23
24 डॉ0 शिव कुमार शर्मा - हिन्दी साहित्य · युग और प्रवृत्तियाँ, पृ०-126
25 डॉ0 राम कुमार वर्मा (संपादक)- कबीर पदावली, पृ० 106
26. कबीर ग्रन्थावली, पृ० 13

अजहूँ न निकसै प्राण कठोर।
दर्सन बिना बहुत दिन बीते, सुंदर प्रीतममोर।।[27]

दयाबाई भी कहती हैं- काग उड़ावत थके कर, नैन निहारत वाट।
प्रेम-सिंध में परयो मन, ना निकसन को वाट।।[28]

यद्यपि इन संत-कवियों ने काव्य और उसके अंगों को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नहीं देखा फिर भी न तो उनमें रसानुभूति की कमी है, न भाषा-शैली की दुर्बलता, न अलंकारों की कमी। प्रतीकों का तो यह साहित्य खजाना है। संत-काव्य की 'चुनरिया' प्रेम-रस से भीगी हुई है। मुख्यतः उसमें शान्त रस की निर्बाध धारा तो प्रवाहित ही है, श्रृंगार-रस की स्थिति भी उल्लेखनीय है। संतों ने अधिकतर साखियों, सवैयों एवं गेय पदों की रचना की है और इस प्रकार के मुक्तकों में जिस सीमा तक रस-सृष्टि सम्भव हो सकती है, वह उनमें विद्यमान है। संतों के रूपक अत्यन्त यथार्थवादी एवं प्रभावशाली हैं। उलटवासियों की रचना भी संत-काव्य में जन-सामान्य में कौतूहल एवं जिज्ञासा पैदा करने के लिये हुई। सुन्दरदास को छोड़कर प्रायः सभी संत पिगल-रचना से अनभिज्ञ हैं। छन्द उनके लिये साधन हैं अपनी अनुभूतियों को प्रेषणीय बनाने के लिये। संतों की वाणियाँ मुख्य रूप से, 'साखी' और 'संबद' के रूप में फूटी। साखियों की रचना दोहा छन्द में है और सबद गेय पदों के रूप में हैं। सुन्दरदास सवैया रचने में बेजोड़ हैं। चौपाई, कवित्त, हंसपद आदि छन्दों का भी प्रयोग हुआ, परन्तु सुन्दर के अतिरिक्त अन्यत्र छंदों की शुद्धता कम है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संत-काव्य जनभावनाओं की सहज प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों एवं विडम्बनाओं का यथार्थ शब्दचित्र है। आत्मविश्वास, आशावाद, आस्था और जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है।

---

27. संतअस माहेश्वरी (सम्पादक)- नूतन भक्तमालि, पृ० 280
28 दयाबोध (प्रेम का अंग), दोहा 14, पृ० 6

संत-साहित्य आचरण की पवित्रता का महान् सन्देश लेकर जनता के समक्ष उपस्थित हुआ जिसमें युग-बोध एवं युग-चेतना का व्यापक स्वरूप प्राप्त होता है। संतकाव्य में मध्ययुगीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। उन्होंने अपने समय के समाज को दोषमुंक्त कर परिष्कृत बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार संत-कवि अपने तत्कालीन समाज के सच्चे प्रहरी थे। जनमानस के संताप को दूर करने वाली संतों की पीयूषवर्षी वाणी का मध्यकालीन समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कबीरदास और नानक जैसे प्रमुख संतों ने ही नहीं, उनके अनुयायियों ने भी अपने-अपने समय की जनता को प्रभावित किया। संतों के व्यक्तित्व ने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से प्रभावित किया और उनकी 'बानियों' से हम आज भी प्रभावित हो रहे हैं। सारा विश्व आज गाँधीवाद से अपनी समस्याओं के हल खोज रहा है, किन्तु वह 'मिलेनियम-मानव' युग पुरुष महात्मा गाँधी स्वमेव कबीरदास के जीवन-सिद्धान्तों और आध्यात्मिक मान्यताओं से प्रभावित है। इससे बड़ा प्रमाण संत-काव्य के प्रभाव का और क्या हो सकता है।

## (ङ) परम्परा : आद्यन्त :

निर्गुण काव्यधारा की परम्परा नामदेव एवं कबीरदास से आरम्भ होकर आज तक किसी न किसी रूप में चल रही है। बौद्ध धर्म से महायान और हीनयान सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ, महायान से मंत्रयान और मंत्रयान से वज्रयान और इसी वज्रयान की घोर तांत्रिक प्रकृति की प्रतिक्रिया के रूप में नाथ सम्प्रदाय का उदय हुआ और नाथ-सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्त्वों को लेकर संत-मत अवतरित हुआ। 'बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन-तत्त्व उभरे, उन सब का समावेश संतमत में हुआ।'[29] संतमत के उदय के समय उत्तरी-भारत में नाथ-पंथ अपनी

---

29. डॉ0 शिवकुमार शर्मा - हि0सा0 युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 133

अव्यावहारिकता के कारण ह्रासोन्मुख हो चुका था। उस समय उत्तरी-भारत में स्वामी रामानन्द दक्षिणी भक्ति-आन्दोलन का उन्नयन कर रहे थे। स्वामी रामानन्द की भक्ति में ऊँच-नीच, जाति-पांति एवं छुआछूत की भावनाएँ नहीं थी। कबीर उनकी शिष्य परम्परा में थे।

महाराष्ट्र के विट्ठल-सम्प्रदाय में संतकाव्य के प्रायः सभी बीजों का वपन हो चुका था, जो कि बाद में संतकाव्य में पल्लवित और पुष्पित हुए। नामदेव मराठी संत थे किन्तु उन्होंने हिन्दी भाषा में भी काफी लिखा। उन्होंने प्रायः उत्तरी-भारत का भ्रमण भी किया था। उनकी कुछ कविताएँ गुरुग्रन्थ साहित्य में भी संग्रहीत हैं कबीर ने उन्हें बड़े आदर के साथ स्मरण भी किया है। अतः संतकाव्य का प्रवर्तक नामदेव को मानने में झिझक नहीं होना चाहिए।[30] यह अलग बात है कि नामदेव के व्यक्तित्त्व में मृदुता और कबीर में प्रखरता है, जिससे वे (कबीर) आम लोगों और शोषितों, दुःखियों के बीच अधिक प्रकाश में आ सके।

स्वामी रामानन्द (1299ई0-1410ई0) के बारह शिष्यों का उल्लेख मिलता है-

अनतानन्द कबीर, सुख सुरसुरा, पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदासु, धना सेन सूरसरि की धरहिर।।

इनमें धना, पीपा, रैदास और कबीर का साहित्य महत्त्वपूर्ण है। धना और पीपा के बहुत थोड़े से पद ग्रन्थ साहब में मिलते हैं। रैदास के भी दो ग्रन्थ है- रविदास की बानी और रविदास के पद। इन सभी में कबीर का स्थान सर्वोच्च है। कबीर के बाद इस परम्परा में धर्मदास का साहित्य, अत्यल्प होते हुए भी, ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। उनके बाद गुरु नानक ने संतमत के विकास में योग दिया । नानक ने भी कबीर की भाँति मूर्तिपूजा का खण्डन किया और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। शेख इब्राहीम के भी कुछ पद ग्रन्थसाहब में मिलते है। संत दादूदयाल का संत-सम्प्रदाय के विकास एवं साहित्य दोनों क्षेत्रों में महत्त्व है। मलूकदास की समावतार लीला (रामायण) से प्रतीत

होता है कि उनके समय तक निर्गुण संत-काव्य-परम्परा पर सगुण-धारा का भी प्रभाव पड़ने लगा था। दादू के ही शिष्य सुन्दरदास इस परम्परा के एकमात्र शिक्षित कवि कहे जाते हैं जिन्होंने शास्त्रीय कवि-परम्परा-पद्धति पर काव्य-रचना की। दादू के दूसरे शिष्य रज्जब एवं जगन्नाथ थे। विश्नोई संप्रदाय की स्थापना करने वाले जगन्नाथ तथा निरंजनी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदास निरंजनी भी संत-काव्य-परम्परा के कवि है। 17वीं शताब्दी के अक्षर अनन्य और राजस्थान के तुलसीदास भी अपने योग, वेदान्त और भंजन के लिए जाने जाते हैं। 17वीं शताब्दी के मुस्लिम संत यारी हुए जिन्होंने 'रत्नावली' में अध्यात्मतत्त्वों का निरूपण किया। संत धरणीदास तथा सतनामी कवि दुलनदास (18वीं शती) भी काफी लोकप्रिय हुए। 18वीं शती में संत पलटू साहब, चरणदास, तथा चरणदास की दो शिष्याएँ- दयाबाई और सहजोबाई जो अपनी सरल रचनाओं के कारण प्रसिद्धि हुई, प्रमुख हैं। इस प्रकार संत-काव्यधारा के विकास में शताधिक कवियों का योगदान रहा है, जिनमें नामदेव, कबीर, नानक, रैदास, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास के अतिरिक्त धर्मदास, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी, पीपा, सेन, धन्ना, सीगा, लालदास, बाबालाल, अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुनदास प्रभृति सिक्ख गुरु, शेख फरीद, भीषन, वीरभान, निपटनिरंजन स्वामी, यारी साहब, दरिया साहब (1664-1780) जगजीवन दास, पलटू साहब, चरनदास, शिवनारायण, प्राणनाथ, दयाबाई, सहजोबाई भी उल्लेखनीय है। जैसा कि चतुर्वेदी जी ने भी लिखा है, "इसमें दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव से लेकर उत्तर के पंजाबी गुरुनानक देव भी है; इसी प्रकार पश्चिमी कठियाबाढ़ के प्राणनाथ से लेकर पूर्व के बिहार प्रान्त के दरिया साहब को भी स्थान मिला है।[31] यह अलग बात है कि 18वीं शताब्दी के अन्त तक संतों की वाणियों में वह चीज नहीं मिलती जिसके बल पर इनके पूर्ववर्ती संतों ने माया को ललकारने का साहस किया। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार अठारहवीं शताब्दी के अंत तक आकर संतों का क्रान्तिकारी साहित्य केवल निरर्थक रूढ़ियों और भाराकान्त

---

30. डा0 विनय मोहन शर्मा-हिन्दी में मराठी संतों की देन, पृ0127
31. आ0 परशुराम चतुर्वेदी- भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएं, पृ050

पदावलियों की भूल-भुलैया भर रह जाता है।[32] यहां पर मैं कुछ प्रमुख संत-कवियों का संक्षिप्त जीवन परिचय एवं उनकी शिक्षाओं पर प्रकाश डाल रहा हूँ।

## (च) प्रमुख संत कवि : संक्षिप्त जीवन-वृत्त एवं शिक्षाएँ :

### (1) नामदेव (सन् 1270-1350ई0) :

संत नामदेव का जन्म महाराष्ट्र में सतारा जिले के नरसी वमनी गाँव में सन् 1270 ई0 में हुआ। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम जोनाबाई था। ये जाति के छीपी थे और संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। आपने संत बिसोवा खेचर से शिष्यत्त्व ग्रहण किया और महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत एवं कवि ज्ञानेश्वर के साथ देशभ्रमण करते हुए आप अनेक संतों के सम्पर्क में आये। वे अपने समय में महाराष्ट्र तथा उत्तरी-भारत में इतने प्रसिद्ध हो चुके थे कि कबीर, रैदास, कमाल और मीरा ने उनका स्मरण श्रद्धापूर्वक किया है। संत ज्ञानेश्वर के मरणोपरान्त पंजाब को अपना धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया।

संत नामदेव के बारे में कहा जाता है कि यह पहले डाकू हो गये थे, किन्तु एक दिन किसी स्त्री से उसके पति के डाकुओं से मारे जाने और फलस्वरूप हुई दुर्दशा का वर्णन सुनकर ये सबकुछ छोड़ पंढरपुर में जाकर बिठोवा के भक्त हो गये और इस प्रकार विट्ठल-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।[33] नामदेव का विवाह राजाबाई से हुआ था, जिनसे इनके चार पुत्र हुए- नारायण, महादेव, गोविन्द और विट्ठल। इनकी मृत्यु 80 वर्ष की अवस्था में 1350 ई0 में हुई। नामदेव निर्गुण सम्प्रदाय के एक बड़े संत हुए। कबीर के पहले होने के कारण इन्हें संत-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि उपस्थित करने का श्रेय है।[34] विट्ठल-सम्प्रदाय में नाम स्मरण का अधिक महत्त्व है। 8वीं शताब्दी के शैवधर्म से 11वीं शताब्दी के वैष्णव धर्म का समझौता विट्ठल-सम्प्रदाय के रूप में हुआ और इसके सबसे

---

32 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग- 3, पृ० 347

33. डॉ0 शिव कुमार शर्मा- हिन्दी साहित्यः युग और प्रवृत्तियां, पृ० 135

34. सम्पादक (प्रधान) धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ०301

बड़े संत नामदेव हुए।[35] विट्ठल-सम्प्रदाय में नाम-स्मरण से ही भक्ति होती है और भक्ति से आत्मज्ञान। जब एकबार आत्मज्ञान हो गया तो मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती है। आत्मज्ञानी भक्त ही सच्चे संत हैं। भक्ति का यह ऐसा उन्मेष था कि इसमें दरजी, कुम्हार, माली, भंगी, दासी और वेश्यापुत्री समान रूप से भक्ति में लीन हो सकते है।[36]

नामदेव पहले सगुणोपासक थे किन्तु बाद में परिस्थितियों के कारण इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर होता गया और नाथपन्थी निरंजन की साधना में प्रवृत्त हुए। उनके 60 से भी अधिक पद 'गुरु ग्रन्थ साहब' में मिलते हैं। पंजाब में काफी दिनों तक रहने से उनकी हिन्दी में मराठी के साथ पंजाबी का भी प्रभाव झलकता है। माधवराज अप्पाजी मुले नामदेव के काव्य के सम्बन्ध में लिखते हैं- "उसमें सत्त्व, विश्वास और भक्ति का तथा प्रेम में आत्म समर्पण, प्रकाश तथा लोकोत्तर आनन्द का आलोक है। वह हृदय के प्रति हृदय का गीत है।"[37] उन्होंने ऐसे अभंगों और गीतों की रचना की कि उनके जीवनकाल में ही उनका यश सारे भारत में फैल गया। नामदेव की कविता उनके जीवनकाल की दृष्टि से तीन भागों में बांटी जा सकती है-

1 प्रथम उन्मेष की रचनाएॅ- जब वे मूर्तिपूजक थे,

2 मध्यकालीन रचनाएँ- जब परम्परा से रहित हो रहे थे।

3. उत्तरकालीन रचनाएँ- जब ईश्वर का सर्वत्रदर्शन करने लगे।

उनकी ये उत्तरकालीन रचनाएं उनके निर्गुण-मार्ग की पुष्टि करती हैं। वे समान रूप से मराठी और हिन्दी में कविता लिख सकते थे–

"गजेन्द्र गणिकेची राखिली तुवालाज, उद्धटिला द्विज अजामिल (मराठी)"।।
"तारिले गनिका विन रूप कुब्जा, विआध अजामिलु तारि अले।।" (हिन्दी)।।

---

35. सम्पादक (प्रधान) धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ०301
36. सम्पादक (प्रधान) धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ०302
37. सम्पादक (प्रधान) धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ०302

हिन्दू-मुसलमानों की मिथ्यारूढ़ियों का विरोध करते हुए दोनों की ही आलोचना की। 'हिन्दू अन्धा तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना'। दोनों को पथभ्रष्ट मानकर दोनों के पूजा-केन्द्रों से अलग परमतत्त्व की सेवा करने की बात की :

हिन्दू पूजै देहुरा, मुसलमान मसीत।
नामे सोई सेविआ, जहँ देहुरा ना मसीत।।[38]

इसी प्रकार उन्होंने ब्राह्मण और शूद्र के भेद को व्यर्थ सिद्ध किया।

नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध ।
तुम कहाॅ के ब्रहमन हम कहाँ के सूद।।[39]

## (2) स्वामी रामानन्द (सन् 1299-1410 ई0) :

रामानन्द अपने युग के सर्वाधिक यशस्वी साधक एवं प्रगतिशील विचारक थे। संतमत के प्रचार-प्रसार का श्रेय इन्हीं को है।[40] भक्तमाल में नाभादास ने रामानन्द के बारह शिष्यों का उल्लेख किया है जिनमें अनन्तदास, कबीर, पीपा, धन्ना आदि प्रमुख है। हजारी प्रसाद द्विवेदी; "माघ कृष्ण सप्तमी संवत् 1356 वि0 अर्थात् सन् ईस्वी की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में इनका जन्म हुआ था और लगभग पूरी चौदहवीं शताब्दी भर अपने धार्मिक प्रचार का कार्य करते रहे। ऐसी प्रसिद्धि है कि प्रयाग के किसी कान्यकुब्ज ब्राह्मण-वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके लिखे तीन संस्कृतग्रन्थ प्राप्त हैं। एक तो वेदान्त सूत्रों पर 'आनन्दभाष्य' दूसरा 'श्रीरामार्चन पद्धति', और तीसरा 'वैष्णवमताब्ज भाष्कर'। श्रीरामार्चन पद्धति में उन्होंने जो गुरु परम्परा दी है, उसके अनुसार रामानन्द जी रामानुज से चौदह पीढ़ी नीचे आते हैं। रामानुज जी का परलोकवास 1137 ई0 में हुआ था। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए 20 वर्ष का समय रखें तो इनका समय सन् ईस्वी की चौदहवीं शताब्दी के शुरू में या तेरहवीं के अन्त में पड़ेगा।"[41] विद्या-अध्ययन के

---

38 डॉ0 विनय मोहन शर्मा - हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ0- 92

39 नामदेव की वाणी, पद 184, पृ0- 87

40 डॉ0 नगेन्द्र (सम्पादक)- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0-142

41 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ0- 315

लिए रामानन्द काशी गए, जहाँ शंकर-अद्वैत का गहन अध्ययन किया तथा स्वामी राघवानन्द को अपना गुरु बनाया।

रामानन्द जी की साधना-पद्धति में नाम-स्मरण का बहुत अधिक महत्त्व है। नाभादास की सम्मति मानी जाय तो वे दशधाभक्ति के आगार थे। दशधाभक्ति के साथ ही साथ उन्होंने ज्ञान-वृत्ति प्रेमियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। रामानन्द की ही प्रेरणा का परिणतफल था कि उनके शिष्य कबीर ने साधना एवं भक्ति को सभी वर्णों तथा सभी वर्गों के लिए सुलभ कर दिया था। द्विवेदी जी ने ठीक ही लिखा है- ''रामानन्द में कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योग-प्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपन्थी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्तिमार्ग, तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है।''[42] जाति, वर्ण तथा ऊँच-नीच का भेदभाव बहुत कुछ दूर कर दिया गया तथा साम्प्रदायिक कट्टरपन को भी स्वामी रामानन्द ने यथासम्भव शिथिल कर दिया। ''स्वामी रामानन्द जी के दरबार में ही सबसे पहले यह नियम चला कि ब्राह्मणेतर तथा शूद्रों को भी एक इनका शिश्यत्व ग्रहण कर सकने तथा अपना आध्यात्मिक सुधार करने का समान अधिकार है। उपासना-विधि के संबंध में यद्यपि यह रामानुज की वैष्णवी साकार उपासना के अनुयायी थे, पर इन्होंने प्रधानता निराकार उपासना को ही दी जैसा कि एक पद से स्पष्ट होता है :

> पूजन चली ब्रह्म ठॉय। सो ब्रह्मा बतायो गुरु मंत्रहि मॉंहि।।
> बेद पुरान सब देखे जोय। उहॉ तो जाइये जो इहॉं न होय।।
> सतगुरु मैं बलिहारी तोर। जिन सफलनिकल भ्रम काटे मोर।।
> रामानन्द स्वामी रमत ब्रह्म। गुरु का सबद काटे कोटि करम।।''[43]

उक्त पद सिखों के ग्रन्थ साहब में है। इसमें साकार उपासना की व्यर्थता का संकेत है और साथ ही ईश्वर की सर्वव्यापकता पर जोर देते हुए गुरु के मंत्र को प्रधानता दी गयी है। संत-कवियों में गुरु को सर्वोच्च स्थान देने की असामान्य

---

42 संपापदक मुकुन्द द्विवेदी- हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ०- 318

43. संपादक श्रीगणेश प्रसाद द्विवेदी-हिन्दी संत-काव्य-संग्रह (भूमिका से) पृ०29-30

गुरु-भक्ति का सूत्रपात रामानन्द जी के समय से ही हम देखते हैं, यद्यपि उनके पद कुछ दो ही एक देखने को मिलते हैं। पर इनसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि संत-साहित्य और संतों के आध्यात्मिक विचार रामानन्द से प्रभावित अवश्य हुए। रामानन्द की हिन्दी रचनाओं में उनका प्रगतिशील, आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, वेदादि धर्मग्रन्थों एवं उपासना के बाह्य साधनों की आलोचना करते हुए अन्तर-साधना का मार्ग प्रदर्शित किया है। उत्तर-भारत में भक्ति-आन्दोलन का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। संत-परम्परा के स्तम्भ कबीर, रैदास, धन्ना जाट, पीपा साहब, सेन नाई सभी इनके शिष्य रहे हैं जिन पर रामानन्द के उदारचेता व्यक्तित्त्व की स्पष्ट छाप दिखती है। ''ब्रह्म को लोक-सम्पर्क में लाने का जो कार्य रामानन्द ने किया, वह उससे पूर्व किसी के द्वारा नहीं हुआ। भक्ति, भक्त एवं इष्ट तीनों के विषय में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी तथा लोकानुयायी है। इस उदार और व्यापक दृष्टिकोण के साथ ही भाषा का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। अतः उन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा हिन्दी को अपना माध्यम बनाया।[44] हिन्दी में रामानन्द की कुछ रचनाएं प्राप्त होती है जो 'रामानन्दजी की हिन्दी रचनाएँ' संग्रह के रूप में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित की गयी। इनमें रामरक्षा, ज्ञानतिलक, योग चिन्तामणि, ज्ञानलीला, सिद्धान्तपटल, आत्मबोध, मानसी सेवा, भगति जोग ग्रंथ और फुटकल पद है। 'डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'रामरक्षा' को अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणिक रचना माना, किन्तु खोज विवरणों से इसके भी अनेक रूपों का पता चलता है। अन्य रचनाओं के प्राप्त रूप भी पूर्णरूप से प्रामाणिक नहीं माने जा सकते, परन्तु इन रचनाओं से रामानन्द के विश्वासों का थोड़ा-बहुत पता तो चल ही जाता है।[45]

## (3) कबीरदास (सन् 1398 या सम्वत् 1455-1575 वि0) :

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में कबीरदास, ऐसे महान् विचारक एवं प्रतिभाशाली महाकवि है, जिन्होंने शताब्दियों की सीमा का उल्लंघन कर दीर्घकाल तक

44. प्रो0 मोहन अवस्थी-हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ0-102
45. संपादक मुकुन्द द्विवेदी-हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ0- 318

भारतीय जनता का पथ आलोकित किया और सच्चे अर्थों में जन-जीवन का नायकत्व किया।[46] मध्ययुगीन अन्य संत और भक्त-कवियों के समान इस महापुरूष का जीवनकाल, निर्वाणकाल एवं अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएं आज भी संदिग्ध है। इतना अवश्य है कि वे सिकन्दर लोधी के समकालीन थे, क्योंकि अनन्तदासकृत 'कबीर परिचई' में सिकन्दरलोधी द्वारा किये गये अत्याचारों के वर्णन से, कबीर द्वारा स्वयं के बारे में किये गये दो प्रसंगों-काज़ी द्वारा हाथी चलवाने, तथा लोहे की जंजीरों से बँधवाकर गंगा में डुबाने के प्रयत्न सम्बन्धी वर्णन में पूर्ण साम्य है।

स्याह सिकन्दर काशी आया, काजी मुला के मन भाया।।
बाध्यों पग मेल्यो जंजीरू, ले बोरयो गंगा के नीरू।।[47]

कबीर ने अपने साहित्य में जयदेव और नामदेव की महत्ता का उल्लेख किया है- गुरु प्रसादी जैदेउनामा। भगति के प्रेमी इनही है जाना।।[48]

नामदेव का (सन् 1270-1350 ई0) समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना गया है। इससे सिद्ध है कि कि इनके पश्चातवर्ती थे कबीर। कबीर के आविर्भाव की दूसरी सीमा हरिराम व्यास का जीवनकाल (जन्म सम्वत् 1567 विक्रमी) है। 'कबीर साहब के व्यक्तित्त्व और उनके गुरु रामानंद का उल्लेख करने वाले पहले व्यक्ति व्यास जी है।[49] यदि उन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में भी कबीर और गुरु रामानन्द का उल्लेख किया होगा तो यह उल्लेख संवत् 1600 के आस-पास किया गया मान्य होना चाहिए। जो भी हो कबीर का आविर्भाव हरिराम व्यास से पूर्व (संवत् 1600 वि0 से पूर्व) मान्य होना चाहिए। संत पीपा ने बड़ी श्रद्धा के साथ कबीर को याद किया है। अतः कबीर पीपा से पहले थे और पीपा का जन्म संवत् 1482 वि0 में माना गयाहै। 'कबीर चरित्र बोध' में कबीर की जन्म तिथि 1455 वि0 ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार स्वीकार की गयी है-

---

46. डॉ0 नगेन्द्र (सम्पादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 143
47. संत कबीर, पृ0-39
48. डॉ0 राम कुमार वर्मा (संपादक)- संत कबीर, पृ0- 39, पद 36
49. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी-कबीर मीमांसा- पृ0-26

चौहद सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी प्रगट भए।।

डॉ0 श्यामसुन्दर दास एवं डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी उपर्युक्त दोहे में 'गए' का अर्थ व्यतीत लगाकर 1456 को कबीर का जन्म सम्वत् मानते है किन्तु डॉ0 माता प्रसाद गुप्त सदृश अन्य विद्वान् संवत् 1455 ज्येष्ठ पूर्णिमा सोमवार को ही कबीर की जन्मतिथि मानते हैं जो कि इंडियन एस्ट्रोलाजी के आधार पर गणना करने से सही बैठ्ती है। अतः संवत् 1455 वि0 में कबीर का जन्म मानना उपयुक्त एवं तर्कसंगत है।

आविर्भावकाल के समान ही कबीर का देहावसानकाल भी अनिश्चित एवं रहस्यमय है। भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने उनका अवसान मगहर में 1492 ई0 में बताया है। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी है-

संवत् पन्द्रह सै पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन।।

अर्थात् कबीर की मृत्यु 1518 ई0 (1575 वि0) में हुई। इसकी पुष्टि कबीर परिचई के इस उल्लेख से भी हो जाती है कि कबीर को 120 वर्ष का पवित्र जीवन प्राप्त हुआ था (सन् 1398.1518 ई0)।

कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इस कथन की पुष्टि अंतः साक्ष्य के आधार पर भी हो जाती है- ''काशी में हम प्रगट भये, रामानन्द चेताए (कबीर)''। नाभादास के भक्तमाल और अनन्तदास के प्रसंग पारिजात से भी यही बात सिद्ध होती है।

'जाति जुलाहा नाम कबीरा', 'तू ब्राह्मन मैं काशी का जुलाहा'- (राग आसा, गुरुग्रन्थ साहिब); 'तनना बुनना तज्यो कबीर' (कबीर ग्रन्थावली, डॉ0 पारस नाथ तिवारी पृ0-9) जैसे उल्लेखों से स्पष्ट है कि जाति-पाँति के कटु आलोचक कबीर ने अपने को जुलाहा जाति का माना है। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''कबीरदास जिस जुलाहा-जाति में पालित हुए थे, वह एकाधपुश्त पहले के योगी जैसी किसी आश्रमभ्रष्ट

जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।[50] किन्तु कबीर पंथ में कबीर का किसी माता-पिता से जन्म नहीं माना गया, क्योंकि कबीर महापुरूष थे। एक किंवदन्ती के अनुसार नीरू जुलाहा और उसकी पत्नी नीमा ने बालक के रूप में विद्यमान सत्पुरूष को अपने घर लाकर पालन-पोषण किया। जनश्रुतियों में प्रसिद्ध है कि कबीर की पत्नी का नाम लोई था जिससे पुत्र कमाल औरपुत्री कमाली पैदा हुए। उनका पारिवारिक जीवन एक साधारण गृहस्थ के परिवार का जीवन था।

अक्षर ब्रह्म के परमसाधक कबीरदास सामान्य अक्षरज्ञान से रहित थे। ''मसि कागद छूयौ नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ'' से स्पष्ट है कि उन्होंने स्वयं किसी ग्रन्थ को लिपिबद्ध नहीं किया। खोज रिपोर्टों, संदर्भ ग्रन्थों, पुस्तकालयों के विवरणों आदि में उनके द्वारा विरचित तिरसठ (63) ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।[51] जहाँ तक प्रामाणिकता एवं सम्मान प्राप्ति का प्रश्न है तो उनकी रचनाओं में 'बीजक' प्रमुख है। कबीरपंथी इसे ही प्रामाणिक ग्रंथ मानते है। सिक्खों के आदि ग्रन्थ में कबीरदास के लगभग सवा सौ पद और ढाई सौ साखियाँ संग्रहीत हैं। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा तैयार किया गया 'कबीर ग्रन्थावली' एक ऐसा संकलन है जो प्राचीन हस्तलेखों पर आधारित है।

संतमत के समस्त कवियों में कवि कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक थे। उन्होंने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके कुछ नहीं लिखा न उन्हें पिंगल शास्त्र और अलंकार-शास्त्र का ज्ञान था, फिर भी उनमें काव्यानुभूति इतनी प्रबल एवं उत्कृष्ट थी कि वे सरलता के साथ महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। उनकी कविता में छन्द, अलंकार, शब्दशक्ति आदि गौण हैं और संदेश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। इनमें आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथप्रदर्शन तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करने वाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे। पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना ही

---

50. हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर (प्रस्तावना) पृ०-11

51. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 144

कबीर का मुख्य लक्ष्य है। वह संत पहले, कवि बाद में। कविता उनका उद्देश्य नहीं था, बल्कि वह 'समरथ का परवाना एवं संदेश पहुँचाने की साधना थी, साध्य नहीं, कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यन्त निकट हैं। कबीर के काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है जिसे सहजता के साथ व्यक्त किया है। ''कागद लेखी'' की जगह ''आँखिन देखी'' में विश्वास करते थे। वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्त्व का समूचा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है। द्विवेदी जी के शब्दों में, ''उनकी वाणियों में सब कुछ को छोड़कर उनका सर्वजयी व्यक्तित्त्व विराजता रहता है। उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य साधारण जीवन रस भर दिया है। कबीर की वाणी का अनुकरण नहीं हो सकता है।''[52]

कबीर का प्रतिपाद्य दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है-रचनात्मक एवं आलोचनात्मक। रचनात्मक प्रतिपाद्य के अन्तर्गत सतगुरू, नामस्मरण, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष आदि विषयों पर व्यावहारिक शैली में भावाभिव्यक्ति हुई है। कबीर की आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन प्रतिपाद्य के दूसरे विषयों- चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, कपट, कनक, कामिनी आदि में होते हैं, जहाँ वे आलोचक, सुधारक, पथप्रदर्शक और समन्वयकर्ता के रूप में दिखायी पड़ते हैं। कबीर ने जातिगत, वंशगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासंगत, शास्त्रगतरूढ़ियों और परम्परा के मायाजाल को बुरी तरह छिन्न-भिन्न किया। एक तरफ वे पण्डितों को खरी-खोटी सुनाते हैं तो दूसरी ओर मुल्लाओं की भी तीखी आलोचना करते हैं। वे कहते हैं :

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।।

वर्ण-व्यवस्था पर भी प्रश्नचिन्ह लगाते हैं- तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र, हम किस प्रकार घृणित-रक्त है और तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो।'

---

52. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी-कबीर, पृ० 217

ढोंगी संतों की बखिया उधेड़ते हुए कहते हैं- ''साढ़े तीन गज की धोती पहने हुए, तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जयमाला डाले हुए और हाथ में माला लिए हुए इन अभागों को हरि का संत नहीं कहना चाहिए, ये लोग तो बनारस के 'ठग' हैं।'' इसी प्रकार न्याय-आडम्बर पर प्रहार करते हुए कहते हैं- ''काजी, तुमसे ठीक तरह बोलते भी नहीं बना, हम तो दीन बेचारे ईश्वर के सेवक है और तुम्हारे मन को राजसी बातें-ही भाती है। लेकिन इतना समझ लो कि ईश्वर, धर्म के स्वामी ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी।'' वस्तुतः मध्ययुगीन दिग्मूढ़ जनता को कबीर ने सत्पथ दिखाया। आज भी निराशा में आशा का संचार करती है उनकी वाणी। 'साईं के सवजीव हैं, कीरी कुंजर दोय' कहकर उन्होंने मनुष्यमात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासनार्थ सभी के लिए समान अधिकार की मांग की। आज भी उनका काव्य हमें शोषण के खिलाफ लड़ने की शक्ति देता है। कबीर का मानना था कि व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की सप्राणता सुगठित व्यक्ति के गुणों एवं आचारण पर निर्भर होती है, जाति, वर्ण, वर्गभेद पर नहीं। उनकी साधना वैयक्तिक और आध्यात्मिक होते हुए भी समष्टिपरक है। कबीर बहुश्रुत एवं सारग्राही संत थे। उन्हें जो बात जिस सम्प्रदाय की ग्राह्य प्रतीत हुई उसे लेते गये, क्योंकि उन्हें एक सामान्य भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा जो करनी थी। वैष्णवों का प्रपत्तिवाद, जैनों की अहिंसा, बौद्धों की बुद्धिवादिता, नाथों की खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति तथासूफियों की मादकता, औपनिष्दिक-अद्वैतवादिता आदि के प्रभावों को ग्रहण करते हुए भी कबीर पर वैष्णवों का विशिष्ट प्रभाव है। परन्तु निजी व्यक्तित्त्व कभी भी तिरोहित नहीं होने दिया। ढोंगी वैष्णव की खबर ली-

कबीर वैश्नो भया तो का भया बूझया नहीं बेमेक।
छापा तिलक बनाइकर, दग्ध्या लोक अनेक।।[53]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 15वीं शताब्दी में कबीर सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे। संयोग से वे ऐसे युग-सन्धि के समय उत्पन्न हुए थे, जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनोभावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, वे

---

53. सम्पादक डॉ0 माता प्रसाद गुप्त-कबीर ग्रन्थावली, साखी 16, पृ0-78

प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे।[54]

कबीर की अभिव्यञ्जना शैली अत्यन्त प्रभावशाली है। द्विवेदी जी लिखते हैं- ''कबीर ने रूप के द्वारा अरूप की अभिव्यञ्जना की है, कथन के सहारे अकथ्य को कहा और इसी में हमीं कबीर के काव्य का चरम रूप मिलता है। काव्यशास्त्र के आचार्य इसे ही कवि-कर्म की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।'' वर्ण्य-विषय के एक-एक अंग पर इस निरक्षर कवि ने अनेक साखियों की रचना की है, किन्तु प्रत्येक साखी में नव्यता है। उनके काव्य में बुद्धितत्त्व की भले प्रधानता है, मगर वह शुष्क या नीरस नहीं है। आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, माया आदि नीरस विषयों को कबीर ने सरल भाषा, भावमयी कल्पना शैली के द्वारा व्यक्त कर उनमें भावनातत्त्व की प्रचुरता पैदा कर दी। रहस्यवाद के भावात्मक पक्ष को उद्घाटित करने वाले उनके पदों में शृंङ्गार-रस की हृदयावर्जक पावनधारा है और सत्यानुभूति एवं ज्ञानगाम्भीर्य भी है। इतना बड़ा आलोचक, इतना रससिक्त है।

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार।।

कबीर दाम्पत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीकों के प्रयोग में बेजोड़ है। उनका काव्य सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रूपात्मक प्रतीक एवं प्रतीकात्मक उलटवासियों के एक से एक बढ़िया प्रतीकों से भरा पड़ा है। रहस्यवादी अनुभूति वाले पदों में अकथनीय अनुभव को व्यक्त करने के लिए कबीर ने पग-पग पर प्रतीकों का सहारा लिया है। 'प्रभाव-साम्य के कारण उनके प्रतीकों से तादृशी-भावना

---

54. सम्पादक मुकुन्द द्विवेदी- हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ०- 324

जाग्रत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर की दूरदर्शिता, रसज्ञता, सहृदयता तथा संवेदनशीलता ने उनके काव्य में विभाव-पक्ष को सुन्दर और प्रभावशाली बना दिया है। फिर भी वह सतर्कता एवं सावधानी नहीं मिलती जो लिखित साहित्य के लिए अपेक्षित है।[55] छन्द, अलंकार आदि के प्रति कोई पूर्वनिष्ठा वह नहीं रखते, फिर भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, विरोधाभास, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग उनके काव्य में मिलते हैं। रूपक के तो वे बेताज बादशाह हैं। ज्ञान की आँधी का प्रभाव देखिए :

> संतौ भाई आई ज्ञान की आंधी रे।
> भ्रम की टाटी सभै उतांनी, माया रहै न बांधी रे।।
>
> दुचितै की दोई थूनिगिरानी, मोह बलेंडा टूटा।
> त्रिसना छांनि परी घर ऊपरि दुरमति भांडो फूटा।।
>
> आंधी पीछै जो जल बरसै, तिहिं तेरा जन भींना।
> कहै कबीर मनिभया प्रगासा, उदै भानु जब चीनां।।[56]

उक्त पद में "अज्ञान का आवरण हटने पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है और भक्ति का प्रादुर्भाव होता है" इस तथ्य को छप्पर, आंधी और वर्षा के रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। उनका व्यक्तित्व उनकी रचना में समाहित है। भावाभिव्यक्ति का संकट कभी नहीं आया, क्योंकि "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया; बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ लाचार-सी कबीर के सामने नजर आती है। वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद करने वाला न समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता है" (द्विवेदी)। उनकी भाषा को खिचड़ी, सधुक्कड़ी, पूर्वीवोली, खड़ी बोली आदि कहा गया है, परन्तु भाषा की प्रकृति शब्दों से नहीं, क्रियाओं से निश्चित की जाती है। क्रिया रूप देखने पर

---

55. डॉ0 नगेन्द्र (संपादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 146
56. कबीर वाङ्मयः खण्ड 2 : सबद : 302, पृ० 379

उनकी भाषा को खड़ी बोली या ब्रजी मानना पड़ेगा।[57] पं0 परशुराम चतुर्वेदी ने पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद कबीर-पूर्व धर्मोपदेशकों की एक सामान्य भाषा के ढलने की संभावना व्यक्त की है, यह सामान्य भाषा एक मिश्रित या मिली-जुली भाषा थी जिसमें हिन्दवी अथवा 'पुरानी खड़ी बोली' का अंश अधिक रहता था और उसके अतिरिक्त, उसमें पूर्वी हिन्दी, ब्रज तथा 'पछाँही बोलियाँ' तक मिली-जुली रहती थी।[58] वास्तव में कबीर की भाषा तत्कालीन सांस्कृतिक-सामाजिक मन्थन की भाषा है जिसमें हिन्दी का अन्तर्प्रान्तीय रूप मिलता है, जो स्थानीय 'कूप-जल' न होकर सर्वत्र जनचित्त को सिंचित करने वाला नीर है-"संसकिरत है कूपजल भाषा बहता नीर'। कबीर की पर्यटनशीलता एवं बहुश्रुतता के कारण उसमें ब्रज, खड़ी, कन्नौजी, अवधी, भोजपुरी, फारसी, अरबी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी आदि अनेक बोलियों एवं भाषाओं के शब्द मिलते हैं। इस प्रकार 'कागद' पर 'कागदी' कविता लिखने वाले सामान्य व्यवहारी जीव नहीं थे, वे आत्मदृष्टि सम्पन्न तत्त्वदृष्टा थे। उन्होंने सर्वत्र अपने प्रियतम को ही व्याप्त देखा था और उससे मिलकर एक होने की साधना की जिसने उन्हें एक सत्यदृष्टा कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

कागद लिखे कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखैं, जित देखैं तित पीव।।

इस प्रकार 'अल्हा-राम' का निर्गुण उपासक, हिन्दू-मुस्लिम-साम्प्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाने वाला, वैज्ञानिक सोच एवं सूक्ष्म तर्कों द्वारा जांति-पांति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, वहिस्त-वैकुण्ठ आदि आडम्बरपूर्ण भ्रान्तियों का जनभाषा एवं जनप्रतीकों-रूपकों द्वारा खण्डन करने वाला, श्रम एवं सदाचरण की जीवन में प्रतिष्ठा प्रदान कराने वाला तथा कथनी-करनी में अभेद स्थापित करने वाला संत कबीर जैसा व्यक्तित्त्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में और किसी का नहीं है।

57. प्रो0 मोहन अवस्थी- हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास, पृ० 106-107
58. परशुराम चतुर्वेदी- कबीर साहित्य की परख, पृ० 228

## (4) रैदास :

मध्ययुगीन संत-परम्परा में रैदास (रविदास) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रैदास का जन्म काशी में हुआ और वहीं उनकीं मुख्य कर्मस्थली रही। कबीर की भाँति रैदास का भी जीवनकाल विवादित है। भक्तमाल और डॉ0 भण्डारकर के अनुसार वे 1299 ई0 के आस-पास जन्मे जबकि डॉ0 भगवत व्रत मिश्र उनका जन्म-मृत्युकाल 1398-1448 ई0 के मध्य रखते है।[59] मीराबाई (1498-1546 ई0) ने उन्हें गुरु माना है। अतः 1530 ई0 के पूर्व उनका देहावसान नहीं माना जा सकता। कबीर से छोटे थे और धन्ना से बढ़े। रैदास चमार दम्पत्ति से पैदा हुए थे, क्योंकि वे स्वयं अपनी जाति बताते हैं-" कह रैदास खलास-चमारा', 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार', 'चरन-सरन रैदास चमइया' आदि। अनन्तदास की 'परिचई' और प्रियादासकृत 'सटीक भक्माल' में रैदास के दीक्षा गुरु रामानन्द बताये जाते हैं, परन्तु रैदास की रचनाएँ रामानन्द का कहीं भी उल्लेख नहीं करती । रैदास विवाहित थे। उनकी पत्नी का नाम लोना था। सिकन्दरलोदी के निमंत्रण पर वे दिल्ली भी गये। वे अन्य संतों की भाँति बहुश्रुत एवं पर्यटनशील प्रवृत्ति के होने के कारण प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर, जयपुर, पुष्कर, चिल्लड़ आदि स्थलों पर भ्रमण किये। रैदास का मोक्ष स्थान काशी का गंगा घाट था।

कबीर की भाँति वे भी पढ़े-लिखे नहीं थे। मूलतः संत थे और उनका बल कलापक्ष की अपेक्षा प्रतिपाद्य पर अधिक था। रैदास के पद गुरु ग्रंथ साहब तथा अन्य कई संग्रहों में बिखरे हुए मिलते हैं। कुछ फुटकल पद 'संतबानी' में है।[60] रैदास की भक्ति का ढांचा निर्गुण संतों का ही है, किन्तु उनके स्वर में कबीर की आक्रामकता न होकर, मधुरता है। उनकी कविता का स्वर निरीहता है। लेकिन कुण्ठा का भाव नहीं है । भक्तिभावना ने उनमें वह बल भर दिया था जिसके आधार पर वे डंके की चोट पर कहते

---

59. संत रैदास और उनका पन्थ (अप्रकाशित), पृ0 116
60. विश्वनाथ त्रिपाठी-हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- पृ0 23

है कि उनके कुटुम्बी आज भी बनारस के आस-पास ढोर (मुर्दा पशु) ढोते हैं और दासानुदास रैदास उन्हीं का वंशज है।

> जाके कुटम्ब सब ढोर ढोवत फिरहिं, अजहुं बानारसी आसपासा।
> आचार सहित बिप्रकरहिं डंड उति तिन तनै रविदास दासानुदासा।।

रैदास का आत्मनिवेदन अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उनकी प्रेमाभक्ति उच्चकोटि की है। आत्मनिवेदन का स्वर :

> "अब कैसे छूटै रामनाम रट लागी।
> प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग-अंग वास समानी।
> प्रभु जी तुम धन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
> प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिनराती।
> प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।।
> प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।।[61]

द्विवेदी जी लिखते हैं कि- "रैदास के भजनों में अत्यन्त शान्त और निरीह भक्त-हृदय का परिचय मिलता है। साधारणतः निर्गुण संतों में कुछ न कुछ सुरति-निरति और इंगला-पिंगला का विचार आ ही जाता है। रैदास के कुछ भजनों में भी वे स्पष्ट आये हैं, परन्तु रैदास की वाणियाँ इन उलझनदार बातों से मुक्त हैं। यद्यपि उनमें अद्वैत वेदान्तियों के परिचित उपमानों तथा नाथों और निरंजनों के सहज, शून्य आदि शब्द भी आ जाते हैं फिर भी उनमें किसी प्रकार की वक्रता या अटपटापन नहीं है और न ज्ञान के दिखावे का आडम्बर ही है।[62] उनके लिए भी निर्गुण ब्रह्म अनुभूति और जिज्ञासा का विषय है। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, ब्रत आदि का विरोध कर उन्होंने अभ्यान्तरिक साधना पर बल दिया।

---

61. नगेन्द्र (सम्पादक) - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०- 147
62 हजारी प्रसाद द्विवेदी- ग्रन्थावली भाग-3, पृ० 335

तीरथ बरत न करौ अंदेशा। तुम्हारे चरन कमल भरोसा।।
जह तह जाओं तुम्हारी पूजा। तुम सा देव और नही दूजा।।[63]

उनका कहना है कि परमात्मा का यथार्थ परिचय केवल सुहागिन ही प्राप्त कर सकती है क्योंकि वह अपने-आपकों सर्वात्मना समर्पण कर देती है। परस्पर की प्रीति तो ऐसी होती है जब दोनों एक दूसरे को देखें :

तू मोंहि देखै हौं तोहि देखौ, प्रीत परस्पर होई।
तू मोहि देखै तोंहि न देखौ, यहि मति बुधि सब खोई।

सहज, सरल शैली, निरीह आत्म-समर्पण एवं हार्दिक भावों की निराडम्बर-युक्त प्रेषणीयता, जो रैदास में मिलती है, वह विरले संतों में ही दृष्टिगत की जा सकती है।

**(5) गुरूनानक देव** (सन् 1469-1538) :

गुरूनानक देव का जन्म सन् 1469 ई0 में लाहौर से 30 मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तलवंडी नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता कालूचन्द जाति के खत्री, जो इसी गाँव (अब ननकाना साहब) के पटवारी थे तथा माता का नाम तृप्ता था। वाल्यावस्था में उन्हें संस्कृत, फारसी, पंजावी एवं हिन्दी की शिक्षा दी गयी। बचपन से ही प्रकृति के खुले वातावरण में पलने के कारण, आत्मचिन्तन, ईश्वर-भक्ति और संतों की सेवा की ओर उन्मुख रहे। उनकी पत्नी सुलक्खना से दो पुत्र- श्री चन्द और लक्ष्मीचन्द हुए। श्रीचन्द भी नानक की भाँति विख्यात साधु बने और 'उदासी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक कहलाए। नानक का मन गृहस्थी में नही लगा और देश-विदेश के भ्रमण पर निकल पड़े तथा अनेक जैन-साधुओं, मुसलमानों, फकीरों, योगियों तथा संतों का सत्संग किया। उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों-दोनों की समान धार्मिक उपासना पर बल दिया। वर्णाश्रम-व्यवस्था और कर्मकाण्ड का विरोध करके निराकार ब्रह्म की भक्ति का प्रचार किया। नानक मक्का-मदीना तक गये। कहा जाता है कि मुगल सम्राट-बाबर से भी मुलाकात हुई।

---

63. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० 147

यात्रा के दौरान उनके साथी और शिष्य रागी नामक मुस्लिम रहते थे, जो इनके द्वारा विरचित पदों का गायन करते थे। व्यापक देशाटन एवं समस्त धर्म-मत अनुयायी संतों के सामीप्य लाभ के परिणाम-स्वरूप समाज और धर्म के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा अनुभूति तथा समन्वय पर आधारित थी। धार्मिक रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण धरौदों तथा सदाचरण-विरोधी प्रवृत्ति का सदैव अपने काव्य द्वारा विरोध किया।

गुरू नानक देव सिख धर्म के संस्थापक थे। नानक-पंथ उनके जीवन-काल में ही एक व्यापक संगठन बन गया। नानक-पंथ की स्थापना राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई। किन्तु उसका स्वरूप धर्मिक तत्त्वों के रंग से अनुरंजित है।[64] नानक में अद्‌भुत संगठन-शक्ति, क्षमाशीलता, समन्वय की भावना और दूरदर्शिता विद्यमान थी। नानक समय-समय पर जो पद रचते रहे उनका संग्रह होता रहा। उनके तथा उनके बाद के गुरूओं द्वारा विरचित पदों का संकलन करके सिख धर्म के छठे गुरू अर्जुन ने 'गुरू गन्थ साहब' का निर्माण किया। दसवें गुरू गोविन्द सिंह तक गुरू-रचित पदों को इस ग्रन्थ में जोड़ दिया गया। आज यह ग्रन्थ सिखों का सिद्धान्त-ग्रंथ माना जाता है। इसमें कहीं भी विचारों की संकीर्णता, अनुदारता तथा असहिष्णुता नहीं है। यही कारण है कि इसमें न केवल दसों गुरूओं की वाणियाँ संग्रहीत है, अपितु नानक से पहले प्रादुर्भूत अन्य संतों के वचनों को भी सुरक्षित रखा गया है। डॉ0 द्विवेदी के अनुसार, इस प्रकार इस सम्प्रदाय के गुरूओं ने प्राचीनतर संतों की वाणियाँ हमें दी हैं, तथा हिन्दी साहित्य का विधार्थी आज निश्चिन्त होकर कह सकता है कि आज से चार सौ वर्ष पहले नानक-पूर्व संतों की वाणियाँ किस रूप में प्रचलित थी।[65]

आदि ग्रन्थ के अन्तर्गत 'महला' नामक प्रकरण में नानक की वाणियाँ संकलित है। उसमें सबद (गेयपद) तथा सलोक (श्लोक, दोहावद्ध साखियाँ) मिलते हैं। उनकी रचनाओं में 'जपुजी, 'असादीवार', 'रहिरास, तथा 'सोहिला', उल्लेखनीय हैं। 'जपुजी'

---

64. नगेन्द्र (सं0)- हि.सा का इति. पृ० 147
65. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृ०-342

दर्शन का सारतत्त्व है। आपकी काव्यभाषा के तीन रूप समक्ष आते हैं- हिन्दी, फारसी-बहुल पंजाबी और पंजाबी। उनका अधिकांश काव्य पंजाबी भाषा में है, साथ ही इसमें ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली का रूप 'नसीहतनामा' की भाषा में प्रयुक्त हुआ है। उनकी भाषा में अद्‌भुत प्रवाह और सहजता है। उनके भक्ति और विनय के पद बहुत मार्मिक है। शामकता इनके व्यक्तित्त्व और रचना की विशेषता है। गुरु नानक ने उलटवासी शैली नहीं अपनाई है। इनके दोहों में जीवन के अनुभव उसी प्रकार गुंथे है जैसे कबीर की रचनाओं में।[66] उपमा, रूपक, प्रतीप, अनुप्रास कवि के प्रिय अलंकार हैं जो सहजता से प्रयुक्त हुए हैं। छन्दों के प्रति कोई आग्रह नहीं है। उनके पद राग-रागनियों में निबद्ध हैं। उनकी वाणियों में शान्त-रस की निर्बाधधारा अविच्छिन्न रूप में वही है। उन्होंने करुण और शृंङ्गार रस के पद भी रचे हैं। निर्गुण संतो से मिलते-जुलते मत के बावजूद नानक के भजनों में न तो कबीर का अक्खड़पन और खण्डन-मण्डन है, न वे कबीर के समान निचले सामाजिक स्तर से आये। जाति-पाँति, छुआ-छूत आदि पर आक्रमण का भाव कबीर के समान अनुभूतिजन्य न होकर बौद्धिकमात्र है। डॉ0 द्विवेदी का मानना ठीक ही है कि विनय और मृदुता में उनकी (नानक की) तुलना भक्तवर रैदास के साथ की जा सकती है। परन्तु यदि उनके भक्तों की त्याग-भावना, दुःखबर्दास्त करने की शक्ति और अपार धैर्य को देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि जैसी अद्‌भुत प्रेरणादायिनी शक्ति इनकी वाणियों ने दी है, वैसी मध्ययुग के किसी अन्य संत की वाणियों ने नहीं दी है। इतिहास साक्षी है कि सिख भक्तों को दीवार में चुन दिया गया है। फाँसी पर लटका दिया गया है और जितनी प्रकार की अमानुषिक पीड़ाएँ दी जा सकती है, सब दी गयी है और फिर भी इन भक्तों ने निराशा या पराजय का भाव नहीं दिखाया। जिन वाणियों से मनुष्य के अन्दर इतना बड़ा अपराजेय आत्मबल और कभी समाप्त न होने वाला साहस प्राप्त हो सकता है, उनकी महिमा निःसन्देह अतुलनीय है। सच्चे हृदय से निकले हुए भक्त के अत्यन्त सीधे उद्‌गार और सत्य के प्रति दृढ़ रहने के उपदेश कितने शक्तिशाली हो सकते है, यह नानक की

---

66. विश्वनाथ त्रिपाठी- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- पृ0-24

वाणियों ने स्पष्ट कर दिया है। इनकी भाषा में किसी प्रकार का घुमाव या जटिलता नहीं है।[67] उनकी वाणियों की एक प्रमुख विशेषता है– जो सुनना चाहे उसे सुना दे कि मानव देह बढ़े पुण्यों का फ्ल है, उसे खाने-पीने-सोने में ही नष्ट न कर दें:

रैण गँवाई सोई कै, दिवसु गवॉइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ।।[68]

नानक सारी बाते गौण मानकर मुख्य मानते थे भगवान् का भजन, जो सारी पीड़ाएँ एवं यातनाएँ विफ्ल कर देता है और परम सत्य को प्राप्त करा देता है।

## (6) संत दादू दयाल (सन् 1544-1603 ई0)

मध्यकालीन धर्म साधना में अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्त्व के धनी, दादू-पंथ के प्रवर्तक संत दादूदयाल धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक और रहस्यवादी कवि हैं, जिनका जन्म गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद नगर में हुआ। अधिकांश विद्वान् उनका जन्म-काल 1544 ई0 मानते हैं। उनकी जाति धुनिया थी जिसका उल्लेख उनके शिष्य रज्जब ने किया है:

'धुनि ग्रभे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रा महामुनि।' दादू धुनिया परिवार में पैदा हुए तथा जात्या मुसलमान थे। उनके गुरु बृद्ध भगवान् थे, जिसका जिक्र जनगोपाल ने 'जनमलीलापरची' में किया है। वे विवाहित थे तथा गरीबदास और मिस्कीनदास उनके पुत्र थे। परची के अनुसार दादू का प्राणान्त 1603 ई0 में हुआ। दादू काफी भ्रमण-वृत्ति के व्यक्ति थे। अकबर के निमंत्रण पर वे फ्तेहपुर सीकरी गये जहाँ अकबर के साथ कई दिनों तक आध्यात्मिक चर्चा करते रहे। अकबर इनसे काफी प्रभावित हुआ।

1573 ई0 में उन्होंने साँभर में पंथ (ब्रह्म सम्प्रदाय) की स्थापना की। उनके जीवनकाल में ही यह पंथ काफी लोकप्रिय हुआ और इसके अन्तर्गत रज्जब, सुन्दरदास, प्रागदास जनगोपाल, जगजीवन आदि स्वनामधन्य साधक उत्पन्न हुए। राधोदास ने

---

67. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृ0 342-343
68. शिवकुमार शर्मा-हिन्दी साहित्य . युग और प्रवृत्तियाँ, पृ0-148

अपने भक्तमाल में दादू के प्रमुख बावन (52) शिष्यों का ज़िक्र किया है, जिनमें सर्वप्रमुख हैं रज्जब और सुन्दरदास। दादू के महाप्रस्थान के बाद उनके पुत्रों ने उत्तराधिकारी का कार्य निभाया और प्रायः सौ वर्षों तक सम्प्रदाय सुचारू रूप से काम करता रहा। दादू-पंथ के महान् संत रज्जब, सुन्दरदास, प्रागदास सरीखे अनुयायियों के बाद दादू-पंथ उच्चआदर्श विहीन होकर उपसम्प्रदायों में बँट गया।

दादू स्वभाव से अत्यन्त दयालु, सरल, क्षमाशील एवं त्यागी पुरुष थे। संत-काव्य की सारी विशेषताएँ उनके काव्य में देखी जा सकती है। वे तुलसीदास के समकालीन थे, किन्तु कबीर के मार्ग के अनुगामी थे। उनकी उक्तियों में काफी कुछ कबीर की छाया जान पड़ती है फिर भी वे वही नहीं थे जो कबीर थे। वह भी समाज के निचले स्तर से आये थे, किन्तु जाति-पांति, ऊँच-नीच पर आक्रमण में कबीर की सी तीव्रता नहीं है। एक तो तब तक निम्न-जातियों के प्रति वह विरोधीभाव कम हो गया था दूसरे उनके स्वभाव में विनय मिश्रित मधुरता अधिक थी। वे कभी उग्र नहीं होते और हमेशा विनम्र एवं प्रीत दिखते हैं। डॉ0 द्विवेदी का अभिमत है कि अपने जीवनकाल में ही वे इतने प्रख्यात हुए थे कि सम्राट् अकबर ने उन्हें सीकरी में बुलाकर चालिस दिन तक निरन्तर सतसंग किया था, फिर भी दादू के पदों में अभिमान के भाव बिल्कुल नहीं है। उन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि भक्त के लिए नम्र, शीलवान, अफ्लाकांक्षी और वीर होना चाहिए। कायरता उनके निकट साधना की सबसे बड़ी शत्रु है। वही साधक हो सकता है जो वीर हो, सिर उतारकर रख सके।[69]

दादू की वाणियों के संग्रह उनके शिष्यों ने 'हरडे वाणी' तथा 'अंग वधू' नाम से किये है। कहा जाता है उन्होंने बीस हजार पदों एवं साखियों की रचना की जिनमें से आज बहुत कम ही उपलब्ध हैं। उनकी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन आ0 परशुराम चतुर्वेदी ने 'दादूदयाल' नाम से सम्पादित किया है। दादू ने भी कबीर की भाँति कहीं-कहीं रूपकों का सहारा लिया है। पर अधिकांशतः उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाती है। उनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरंजन को व्यक्तिगत भगवान् के

रूप में उपलब्ध किया गया है वहाँ वे कवित्त्व के उत्तम उदाहरण हो गये हैं। ऐसी अवस्था में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। सूफियों की भाँति इन्होंने भी प्रेम को ही भगवान् का रूप और जाति बताया है। बिरह के पदों में, सीमा का असीम से मिलने के लिए तड़पना सहृदय को मर्माहत किये बिना नहीं रह सकता।[70] उनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित परिमार्जित हिन्दी है जो स्वाभाविक वेग के कारण अत्यन्त प्रभावजनक बन पड़ी है। उनकी भाषा में ओज और गाम्भीर्य दोनों को देखा जा सकता है:-[71]

दादू पद जोड़े क्या पाईये, साषी कहे का होई।
सतिसिरोमनि साईयां, तत न चीन्हां सोर।।
पोथी अपणा प्यंड करि, दादू कथौ अलेष।
पंडित अपणा प्रांण करि दादू कथौ अलेष।।
असत मिलइ अंतर पडइ, भाव भगति रस जोइ।
साध मिलइ सुख ऊपजई, आनंद अंग नवाइ।।

दादू को अपने मीठे स्वभाव के चलते कबीर से ज्यादा शिष्य और सम्मान देने वाले मिले, पर दादू कबीर के महत्त्व को कभी नहीं भूले। उनकी कविता का एक नमूना और देखा जा सकता है :

आपा मेटे हरिभजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीव सों, दादू यहै मतसार।।[72]

हिन्दू तुरक न जाणौं दोइ।
सांई सबनि का सोई है रे, और न दूजा देखौ कोई।।

कीट पतंग सबै जोनिन में, जलथल संगि समाना सोई।
पीर पैगम्बर देवा दानव मीर मलिक मुनिजन को मोहि।।[73]

---

69. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ० 338
70. हजारी प्रसाद ग्रन्थावली भाग-3, पृ० 339
71. नगेन्द्र (सं0) - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०-152
72. डॉ0 शिवकुमार शर्मा- हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, पृ० - 149
73. संत सुधासार - प्रथम खण्ड, दादू दयाल, पृ० 445

## (7) सुन्दरदास (सन् 1596-1689 ई०) :

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्यों में सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञान-सम्पन्न, पढ़े-लिखे प्रतिभा-सम्पन्न कवि और साधक थे। उन्हें संत-साहित्य का आचार्य माना जाता है। आपका जन्म जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौंसा के परमानन्द खण्डेलवाल के यहाँ सन् 1596 ई0 में हुआ था। सुन्दरदास छह वर्ष की अल्पायु में संत दादू के शिष्य हो गये और ग्यारह वर्ष की उम्र में संत रज्जब और जगजीवन के साथ काशी गये जहाँ पर दीर्घकाल तक संस्कृत-व्याकरण, साहित्य और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। 1625 ई0 में समस्त विद्याओं का कौशल प्राप्तकर शेखावटी लौटे। बारह वर्ष तक उन्होंने फ़्तेहपुर में किसी गुफा में योग-साधना भी की। वे सत्संग-प्रेमी थे तथा घूम-घूमकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। अस्सीघाट पर वे तुलसीदास से भी मिले थे। रज्जब से उनका विशेष लगाव था।

जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है कि समस्त संत-कवियों में उनके जैसा पढ़ा-लिखा और शास्त्रविद् अन्य कोई संत नहीं था। सुन्दरदास ने बयालिस ग्रन्थों की रचना की है जिनमें 'ज्ञान समुद्र' तथा 'सुन्दर विलास' प्रमुख ग्रन्थ है। उनकी सारी रचनाएँ पुरोहित हरि नारायण शर्मा ने 'सुन्दर ग्रन्थावली' नाम से दो भागों में संकलित कर सम्पादित की है। उनकी रचनाओं का विषय अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों में संग्रहीत तत्त्ववाद है जो हिन्दी कविता में नई चीज होते हुए भी शास्त्रीय ज्ञान रखने वालों के लिए कोई विशेष आकर्षक नहीं है। अपने काव्य को उन्होंने छंद-बद्ध प्रहेलिकाओं से भी सुसज्जित किया। शास्त्रीय ढंग का अकेला निर्गुणिया कवि, संतों में अपने बाह्य उपकरणों के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। शृंङ्गारिक रचनाओं के धुरविरोधी थे। उनका प्रस्तुत छन्द रसिक प्रिया (केशव), रसमजरी (नन्ददास) और सुन्दर शृंङ्गार (सुन्दर कविराय द्वारा रचित) की शृंङ्गारिकता की इस प्रकार आलोचना करता है:

रसिकप्रिया रसमंजरी और सिंगारहिं जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आंनि।।
विषै बनाई आंनि लागत विषयिन कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहैं नखशिख नारी।।

ज्यों रोगी मिष्ठान पाइ, रोगहि बिस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जुतो रसिकप्रिया धारै।।[74]

सुन्दर की कविता में परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था, कहीं-कहीं राजस्थानी और खड़ी बोली का पुट भी आ गया है। कविता सम्बन्धी उनका मन्तव्य था किः

बोलियो तो तब जब बोलिबे ही बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामे लहिए।
गाइए तौ तब जब गाइए को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मनै जाय गहिए।
तुक भंग, छंद भंग अरथ मिलै न कछू,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए।।

इस प्रकार उन्होंने अर्थहीन अटपटी भाषा और संतों की पहेली बुझौबल-शैली का विरोध किया, किन्तु वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग जो कि संतों की खाश पहचान है, कम हो गया।

## (8) मलूकदास (सन् 1574-1682 ई०) :

इनका जन्म सन् 1574ई0 में इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक गाँव में हुआ था। इस प्रकार उनके आविर्भाव के समय अकबर के साम्राज्य का दीपक हिन्दुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था और महाप्रयाण के समय औरंगजेब का द्वन्द्वपूर्ण राज्य था। सुन्दरलाल खत्री के पुत्र मलूकदास में संसार के प्रति विरक्ति का बीज बचपन से ही अंकुरित हो गया था। उनके दीक्षा-गुरु के सम्बन्ध में विवाद है, कुछ विद्वान् उन्हें कील का शिष्य मानते है तो दूसरे विद्वान् दक्षिण-भारत के किसी विट्ठल को उनका गुरु

74. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं0 नगेन्द्र) से उद्धृत, पृ० - 154

बताते हैं। बचपन में बड़े भोले-भाले होने से लोग उन्हें मल्लू कहकर बुलाते थे। अन्तः साक्ष्य से ज्ञात होता है कि मलूकदास ने 'सुखसागर में गुरू देवनाथ के पुत्र पुरूषोत्तम को गुरू रूप में याद किया है। मलूकदास आजीवन गृहस्थ रहे और पैतृक व्यवसाय द्वारा गृहस्थी का पालन करते रहे।

मलूकदास की रचनाओं में ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तबच्छाबली, भक्तिविवेक, ज्ञानपिरोहित, बारहखड़ी, रामअवतारलीला, ब्रजलीला, ध्रुवचरित, विभवविभूति, सुखसागर, शब्द तथा स्फुट पद के नाम लिये जाते हैं। योग, ज्ञान, निर्गुण भक्ति, वैराग्य, दर्शन, उपदेशात्मकता, अवतारवाद आदि का इन रचनाओं में जिक्र है। अवतारवादी लीला सम्बन्धी रचनाएँ उन्होंने तब की जब वे सगुणोपासक थे। वैसे उनका ब्रह्म निर्गुण और गुणातीत है, जो सारी सृष्टि का पालक और संहारक है, भेद भाव से परे तथा संसार के प्रत्येक अणु में रमा हुआ है। आपकी रचनाओं में 'ज्ञानबोध' सबसे महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की अन्तस्साधना, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निवृत्ति-प्रवृत्ति-प्रभृति का पांच खण्डों में वर्णन किया है। वैराग्य, नश्वरता, निष्काम जीवन, मनन, मोक्ष आदि को 'रतनखान' नामक रचना में समझाया है। 'भक्ति विवेक' में काशी-नृप की कथा, पण्डित तथा नागकन्या की कथा, सिंह- शृंङ्गाल आदि की कथाओं द्वारा ब्रह्मोपासना, माया-परित्याग, इन्द्रिय-शमन आदि में ही जीवन की सार्थकता बतायी गयी है।

उनके काव्य की भाषा अवधी और ब्रज है। अवधी भाषा में ज्ञानबोध, रतनखान, ज्ञान परोछि जैसी रचनाएँ हैं तो ब्रजभाषा में कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया। उन्होंने यथास्थान संस्कृत, फारसी आदि अन्य भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके साहित्य का एक नमूना देखें :

कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै।<br>
या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै।।<br>
कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गावै।

क्या गिरही औ क्या बैरागी, जेहि हरिदेयं सो पावै।।[75]

वास्तव में वे एक संत महात्मा थे। 'काव्य-रचना उनका उद्देश्य नहीं था। उनकी रचनाओं से तत्कालीन धार्मिक विचारों तथा आदर्शों का परिचय अवश्य मिलता है। निर्गुण विचारधारा के आधार पर मलूकदास ने धार्मिक समन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिससे उनके विचारों की उदारता प्रकट होती है।[76]

## (9) संत हरिदास निरंजनी (16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 17वीं शताब्दी का पूवार्द्ध) :

हरिदास निरंजनी 'निरंजनी-सम्प्रदाय, के संस्थापक कवि थे, जो नाथ-पंथ से प्रभावित हैं। निरंजनी-सम्प्रदाय को नाथ-पंथ एवं संत-मत के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। यह एक प्राचीन सम्प्रदाय है जिसका इतिहास पूर्णतः ज्ञात नहीं है। दादू-पंथी राघोदास ने अपने भक्तमाल में इसके प्रवर्तक के रूप में जगन का उल्लेख किया है। एक मत यह भी है कि इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन हरिदास निरंजनी ने किया। राघोदास के अनुसार हरिदास डींडवाणा निवासी थे। सुन्दर ग्रन्थावली की भूमिका में पुरोहित हरिनारायण शर्मा लिखते हैं कि पहले वे प्रागदास के शिष्य हुए, फिर दादू के, तत्पश्चात् कबीर पंथ और गोरख-पंथ में दीक्षित हुए और अन्ततः इन्होंने अपना निराला पंथ चलाया। परशुराम चतुर्वेदी भी प्रागदास को ही हरिदास का दीक्षा-गुरु बताते हैं।

''श्री हरिपुरुष की वाणी'' में कहा गया है कि हरिदास जी 45 वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे। हरिदास जी को देशाटन बहुत पसन्द था और इसी क्रम में वे झंगूर, डीडपुर, नागपुर, अजमेर, नैडे, तोडा, अम्बेर, जयपुर, सिघौटा प्रभृति स्थानों का भ्रमण किये। 'उनके शिष्य प्रशिष्यों में नारायणदास, हरीराम, रूपदास, सीतलदास, लक्ष्मणदास, गंगादास आदि का उल्लेख किया जाता है। मारबाड़ में हरिदास के नाम पर कई मठ और गद्दियाँ है। इस सम्प्रदाय का प्रमुख मठ डीडवाणा में है।[77] इस सम्प्रदाय

---

75. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं0 नगेन्द्र) से उद्धृत, पृ0-153
76 डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक) - हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, पृ0- 433-34
77. सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र -हिन्दी साहित्य का इतिहास- पृ0 149

में प्रसिद्ध है कि ये डिण्डवाड़ा के क्षत्री थे।[78] हरिदास की रचनाओं-अष्टपदीजोगग्रन्थ, ब्रह्मस्तुति, हंस प्रबोधग्रन्थ, निरपखमूल ग्रन्थ, पूजाजोगग्रन्थ, समाधिजोगग्रन्थ, संग्रामजोग ग्रन्थ प्रभृति में निर्गुण ब्रह्म की अलौकिकता पर जोर दिया गया है। माया और लौकिक बन्धनों को वे मोक्ष प्राप्ति में बाधक मानते थे। ब्रह्म विषयक अतीन्द्रिय अनुभूति में मग्न रहने वाले संत थे :

"गुणग्राही गोविन्द गुण गुणगावा,
भजि-भजि राम परम पद पावा।।[79]

हरिदास सरल ब्रजभाषा में अच्छी कविता लिख लिया करते थे। कलापक्ष के अलंकरण पर विशेष आग्रह उनमें भी नहीं मिलता। एक नमूना उनके काव्य का :

सखी हो मास बसंत विराजै।
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल में वेणु मधुर ध्वनि बाजै।
भागे सुख पॉय नग गुथ्या, मन मोतो मधि आया।
विकसत कमल परमनिधि प्रगट्त हरि कूँ हार चढ़ाया।
गरब गुलबि चरणतल चुरिया, अगर अबीर खिड़ाया।
परमल प्रीत परसि परि पूरन, पिवु में प्राण समाया।
अंक नालि निहचल नव निरभय ए कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनंद निज नगरी, खेलै फाग मुरारी।।[80]

## (10) संत रज्जब (सन् 1567-1689 ई0)–

संत रज्जब जिनका पूरा नाम रज्जब अली खाँ था, दादू के प्रमुख शिष्यों में से एक थे। गुरु के प्रति आपकी अपार श्रद्धा थी। रज्जब ने दादू की रचनाओं का संकलन 'अंगवधू' नाम से तैयार किया था। रज्जब ने अपने बारे में कुछ भी नहीं लिखा, किन्तु 'बाह्य साक्ष्य एवं अनुमान के आधार पर इतना ज्ञात होता है कि वे पठान-पुत्र थे, उनके पिता सेना में एक छोटे नायक थे। उनकी जन्मभूमि सांगानेर (राजस्थान) थी। रज्जब

---

78 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृ० 341
79 हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं0 नगेन्द्र) से उद्धृत, पृ०-149
80 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-3, पृ० 341

जी के एक छोटा भाई था, और भाई अथवा बहनें थीं अथवा नहीं, इसका पता नहीं चलता। रज्जब जी ने विवाह नहीं किया। प्रारम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर थी। साधु-संतों का सत्संग उन्हें प्रिय था। गुरु दादूदयाल से उन्होंने दीक्षा ली तथा उन्हीं के साथ रहे। दादू जी के शिष्यों में साधक-संत के रूप में वे सर्वाधिक प्रतिष्ठित थे।[81] वे लम्बे चौड़े शरीर के थे। वे संतों, साधुओं का अपरिमित सम्मान करते थे। इनकी मृत्यु संवत् 1746 (सन् 1689ई0) में हुई। सांगानेर इनकी गद्दी है। जहाँ इनसे सम्बद्ध वस्तुएँ रखी है। इनके चलाये हुए पंथ का नाम 'रजबावत' है।[82]

संत-समागम, गुरुकृपा और आत्मनुभूति के कारण जब वे 20 वर्ष के थे, तभी से रचना करने लगे। रज्जब ने अनेक छन्दों में जिन विषयों को व्यक्त किया है, उनमें गुरुमहिमा, निर्गुण ब्रह्म की जटिल प्रतीति, नाम-साधना आदि प्रमुख हैं। उनके प्रसिद्ध तीन ग्रन्थों में अंगवधू का जिक्र पहले ही किया जा चुका है। दूसरी रचना 'सब्बंगी' है जिसमें दादू के अतिरिक्त नामदेव, कबीर, रैदास, पीपा, नानक प्रभृति स्वनाम धन्य संतकवयिों की बानियां हैं। तीसरी रचना 'वाणी' में उनकी स्वयं की भी रचनाएं संकलित है। रज्जब ने साखी, पद, सवैया, अरिल्ल, छप्पय आदि विविध छन्दों में रचनाएं की हैं। 'रज्जब वाणी' नाम से डॉ0 व्रजलाल वर्मा ने रज्जब की उपलब्ध वाणियों का नवीन संस्करण संपादित किया। डॉ0 व्रजलालवर्मा के अनुसार, 'आडम्बरविहीन निश्छल साधना पर उनका विश्वास था। नाना लोक-प्रसंगों की भूमिका पर उन्होंने जिस दिव्य साधना का संकेत किया वह हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत-साधना की अनुपम निधि है।''[83] रज्जब का काव्य भावपूर्ण, साफ और सहज है। उनकी भाषा पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है और इस्लामी साधना के शब्द भी अपेक्षाकृत अधिक हैं। द्विवेदी जी का मत है, ''तथाकथित शास्त्रीय काव्यगुण का उसमें अभाव है, फिर भी एक आश्चर्यजनक

81 डॉ0 व्रजलाल वर्मा-संत कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ० 20

82 (प्रधान सम्पादक) डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा- हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, पृ० 471

83 डॉ0 व्रजलालवर्मा- सत कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य)- पृ०20

विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है। और लोग जिसको कई पदों में कहते हैं, रज्जब उस तत्त्व को सहज ही दोहे में कह जाते हैं।[84] उनकी रचनाओं के कुछ नमूने देखें:

गुरु बिन गम्य न पाइये, समुझि न उपजे आईं।
रज्जब पंथी पंथ बिन, कौन देसावट जाईं।। (गुरुदेव का अंग, साखी-32)।
सेवक कुम्भ कुंभार गुरु, धड़ि धड़ि काढ़े खोट।
रज्जब मांहि सहाय करि, तब बाहै दे चोट।। (गुरुमुख कसौटी का अंग साखी-2)
ज्यों धोबी की धमस सहि, ऊजल होइ सुचीर।
त्यूं सिख तालिब निर्मल, भार सहै गुर पीर।। (साखी-3)

इस प्रकार अनेकानेक रूपकों, उपमानों, उदाहरणों द्वारा उन्होंने गुरुशिष्य के माहात्म्य पर प्रकाश डाला है। बिरह बिना प्रियतम (ब्रह्म) से मिलन असम्भव-

दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहाँ मिलै सो पीव।।

भाषायी चेतना देखते बनती है। लोकभाषा एवं जनभाषा को विशेष महत्त्व देते है। संस्कृत अपने बीज रूप में प्राकृत ही थी और प्राकृत सूर्य के समान है तथा संस्कृत में लिखे गये निगम (वेद) नेत्रों के समान हैं परन्तु जिस प्रकार सूर्य के बिना नेत्र व्यर्थ हैं उसी प्रकार प्राकृत के बिना संस्कृत शक्तिहीन है। जो शरीर में प्राण का महत्त्व है वही संस्कृत में प्राकृत का। प्राकृत बिना शब्द की सिद्धि नहीं होती। दृष्टव्य है-

बीज रूप कछु और था, वृक्ष रूप भया और।
त्यों प्राकृत ते संस्कृत, रज्जब समझा और।।
प्रकट पराकृत सूर सम, निगम नैन उनहार।
जन रज्जब जगि येक विन, चहूँ और अंधार।।
प्यड प्राण विन कछु नहीं, शब्द न सावति होय।
तैसे रज्जब संस्कृत, बिना जु प्राकृत जोय।।।

अन्त में रज्जब जी प्राकृत और संस्कृत दोनों को मिथ्या मानते हैं, यदि उनमें राम नाम की महिमा का वर्णन नहीं है, गान नहीं है-[85]

---

84 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3 पृ० 340

रज्जब वाणी सत्य सौ, जामां है निजनाम।
कहा पराकृत संस्कृत, राम बिना वे काम।।

उनकी परमात्म-विरह की कविता में सूफी विरह-भाव की सी मर्मिकता है :

कबहूं सो दिन होयेगा, पीव मिलेगा आइ ।
रज्जब आनन्द आतमा, त्रिविध ताप तनि जाइ।।

इस प्रकार हम देखते है कि रज्जब जी के साहित्य में लोकोपयोगी मानव-जीवन के सभी पक्ष प्राप्त होते हैं। मानव-जीवन का इतना व्यापक एवं बहुपक्षीय चित्र विश्व के विरले कवियों के साहित्य में मिलेगा।[86]

## (11) संत चरणदास (सन् 1703-1782 ई०) :

संत चरणदास उत्तर मध्यकाल के एक अद्‌भुत प्रतिभा-सम्पन्न संत कवि हैं। इनका जन्म मेवात (राजस्थान) के डेहरा गाँव में एक दूसर वैश्य-कुल में भाद्रशुक्ल 3, मंगलवार सन् 1703 ई0 में हुआ था। बचपन का नाम रणजीत था। अपनी विधवा माँ के साथ अल्पायु (7 वर्ष) में अपने नाना के घर दिल्ली आये। छोटी आयु में ही इनका विवाह हो गया किन्तु विवाहोपरान्त बहुत जल्दी वैराग्य-भाव पैदा हो गया। चरणदास उपयुक्त गुरू की खोज में भटकते रहे और जब कोई समर्थ गुरू न मिला, तब श्री शुकदेव मुनि के दर्शन स्वप्न में प्राप्त करके उन्होंने उन्हें ही अपना गुरू मान लिया।[87] किन्तु कहा जाता है कि इनके गुरू मुजफ्फरनगर के समीपवर्ती शुकताल गाँव के निवासी कोई सुखदेव या सुखानन्द थे[88] (व्यास पुत्र शुकदेव से भिन्न)। इनकी दीक्षा होने के बाद उन्हें चरणदास कहा जाने लगा। इनकी मृत्यु अगहन सुदी 4, 1782 ई0 में दिल्ली में हुई, जहाॅ उनका संत-जीवन वीता था। यहाँ उनकी समाधि भी है। चरणदास 'भागवत' के नित्यपाठी थे। वर्षों योगाभ्यास भी किया। अधिक पढ़े-लिखे नही थे, किन्तु

---

85. डॉ0 व्रजलालवर्मा- संत कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ० 225
(रज्जब में सारी साखियां इसी ग्रन्थ से उद्‌धृत)
86. डॉ0 व्रजलालवर्मा- सत कवि रज्जव (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ०-262
87. डॉ० नगेन्द्र (सम्पादक)-हि0सा0का इतिहास, पृ०-385
88 डॉ० धीरेन्द वर्मा (प्रधान सं0), हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, पृ०-182

उनकी कुल 21 रचनाएँ बतायी जाती हैं जिनमें, 'अमरलोक अखण्ड धाम वर्णन', 'अष्टांग योग', 'ज्ञानस्वरोदय', 'धर्मजहाजवर्णन', 'पंचोपनिषद्', 'ब्रजचरित्र', 'ब्रह्मज्ञान सागर शब्द', 'भक्ति सागर', 'मनविकृतकरण गुटका सार', 'योग संदेह सागर', 'भक्ति पदार्थ' प्रमुख हैं। उनके समस्त काव्य का प्रमुख विषय है- योग, ज्ञान, भक्ति, कर्म और कृष्ण चरित का दिव्य सांकेतिक वर्णन। 'भागवत पुराण का ग्यारहवा' स्कन्ध इनकी रचनाओं का प्रेरणा स्रोत है। समन्वयात्मक दृष्टिकोण होते हुए भी उन्होनें योग-साधना पर अधिक बल दिया है। बड़थ्वाल ने प्रेमानुभुति की प्रगाड़ता के कारण इस (चरणदास-सम्प्रदाय) को निर्गुण संत-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही उचित माना है। वस्तुतः इसमें ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय है।

चरणदास के शिष्यों की संख्या 52 बतायी जाती है जो बड़े पण्डित और वक्ता थे, जिन्होंने अपने गुरू द्वारा प्रवर्तित 'चरनदासी-सम्प्रदाय' की वावन (52) शाखाएँ स्थापित कर पंथ-प्रचार किया। चरणदास की दो शिष्याएँ भी थीं- सहजोबाई और दायाबाई जो अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। चरणदास की वाणी बड़ी ही सीधी-सादी एवं मुधुर है। निर्गुण के साथ वे सगुणोपासक भी थे। भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद का सुन्दर समन्वय है। जीवात्मा को पत्नी और परमात्मा को पति मानकर उन्होंने शान्त-रस की सुन्दर कविताएँ लिखीं हैं। एक नमूना :[89]

> हिरदै मैं पावक जरै, हेली तपि नैना भये लाल।
> ऑसू पर ऑसू गिरैं, हेली यही हमारा हाल।।
> प्रीतम बिन कल ना परै, हेली कल-कल सब अकुलाहिं।
> डिगी परूँ सत ना रहो, हेली कब पिय पकरे बाँहि।।
> गुरू सुकदेव दया करैं, हेली मोहि मिलौवे काल।
> चरनदास दुख सब भजैं, हेली सदा रहूँ पतिनाल।।

### (12) संत पलटू साहब (जन्म 1793 ई0) :

पलटू साहब का जन्म सन् 1793 ई0 के आस-पास फैजाबाद जिले के नागपुर जलालपुर गाँव में हुआ था। पहले वे गृहस्थ थे, किन्तु बाद में विरक्त हो गये। कहा

जाता है कि उनहोंने जलालपुर में अपना मुण्डन कराया और अवध में करधनी तोड़ी। आपकी साधना का मूल गढ़ अयोध्या था। अपने जीवनकाल में पलटू साहब इतने प्रभावशाली हो गये कि अयोध्या के वैरागी पण्डित उनसे ईर्ष्या करने लगे, परिणामस्वरूप असमय में ही उनका स्वर्गवास हो गया।

पलटू साहब की वाणियों को तीन भागों में प्रकाशित कराया गया है। पहले भाग में कुण्डलियाँ, दूसरे भाग में रेखते, झूलने, अरिल्ल एवं सवैये तथा अंतिम भाग में शब्द और साखिया हैं। इनमें कुण्डलिया सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। डॉ0 अम्बा प्रसाद सुमन : "सरलता के साथ-साथ प्रभाव भी है। चमत्कार-पूर्ण भाषा के लिए इनकी वाणी प्रसिद्धि पा चुकी थी। इनकी अन्योक्तियों में उत्कृष्ट आध्यात्म-उद्‌बोधन मिलता है। जीवात्मा को ज्ञान प्राप्त कराने के संकेत श्रोताओं तथा पाठकों पर एकदम सीधा प्रभाव डालते हैं।" इनकी काव्य शैली का उदाहरण इस प्रकार है:[90]

क्या तू सोवै बावरी चाला जात बसंत।
चाला जात बसंत कन्त ना घर में आये।
धृग जीवन है तोर कन्त बिनु दिवस गँवाये।
गर्व गुमानी नारि फिरै जीवन मदमाती।
खसम रहा है रूठि नही तू पठवै पाती।
लगै न तेरों चित्त कन्त को नाहि मनावै।
का पर करै सिंगार फूल की सेज विछौवे।
पलटू ऋतु भरि खेलि ले फिरि पछितैहे अंत।
क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसंत।।

कबीर की भाँति पलटू भी बड़े निडर एवं फक्कड़ आलोचक थे। यही कारण है कि उन्हें दूसरा कबीर कहा जाता है। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मो की विषमताओं और बाह्यआडम्बरों को जन्म-जन्मान्तर से लादी हुई परम्परा ढोना बताया है। व्यर्थ का

---

89. डॉ० नगेन्द्र (सं0)- हिन्दी साहित्य का इतिहास (से उद्‌धृत), पृ० 385
90. डॉ० नगेन्द्र (सं0)- हि0 सा0 का इतिहास ( से उद्‌धृत), पृ० 384

पूर्व-पश्चिम का बँटवारा और मुर्दो का कब्र में गाड़ने तथा आग के बीच जलाने को लेकर धार्मिक भेदभाव। धर्म कहीं बाहरी कर्मकाण्डों में नही, ईश्वर तो घट-धट (शरीर) व्यापी है। दोनों सम्प्रदायों की मूर्खता देखें-

तुरुक लै मुर्दा को कब्र में गाड़ते, हिन्दू लै आग के बीच जारै।
पूरब वे गये हैं वे पच्छ को दोउ बेकूफ हैं खाक टारै।।[91]

## (13) सहजोबाई :

हिन्दी संत-काव्य की निर्गुणोपासिका कवयित्रियों में सहजोबाई का विशिष्ट स्थान है। उनकी वाणी संत-मत की अमूल्य सम्पति है। उनके जीवन के बारे में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यही कारण है कि उनके जन्म-मरण की तिथियों के बारे में भी विवाद है। जादातर सहमति यह है कि वह संम्वत् 1800 वि0 के आस-पास पैदा हुई। वियोगीहरि तथा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी उनका जीवनकाल सन् 1740-1820 ई0 निर्धारित करते हैं।[92] सहजोबाई राजस्थान के डेरा गाँव की रहने वाली थी, जाति से वैश्य दूसर थी, वेष-ब्रह्मचारिणी का तथा गुरु चरनदास थे। उनके पिता का नाम हरिप्रसाद था जिसका उल्लेख भी उन्होंने किया-

हरिप्रसाद की सुता नाम है सहजोबाई।
दूसर कुल में जनम, सदा गुरुचरण सहाई।।[93]

वे अपने माँ-बाप की कनिष्ठ कन्या थीं। उनकी शिक्षा घर पर ही हुई। कहा जाता है कि अल्पायु में इनका विवाह भार्गव कुल के एक सम्पन्न परिवार से होना निश्चित हुआ। विवाह-स्थल पर इनके मामा के बेटे महात्मा चरणदास भी आये और उन्होंने विवाहार्थ सजी सँभली सहजोबाई से कहा :

---

91. संत सुधासार-द्वितीय खण्ड, पलटू साहब, पृ0-243
92. वियोगीहरि-संतसुधार, तथा परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी-भारत की संत परम्परा, पृ0-722
93. सहजोबाई-सहजप्रकाश-पृ0-40

सहजो तनिक सुहाग पर, कहा गुथाए सीस।
मरना है रहना नही, जाना विसवे बीस।।

यह सुनकर सहजोबाई ने विवाह न करने की घोषण कर दी। दुर्भाग्य से उसी समय घोडे से गिरकर वर की भी मृत्यु हो गयी और सभी शोक-सागर में डूब गये। सहजोबाई चरणदास के चरणों में गिर पड़ी और चरणदास ने उसे धर्मकन्या स्वीकार कर लिया। इस प्रकार आजीवन ब्रह्मचारिणी सहजोबाई दिल्ली में चरणदास जी के सत्संग में रहने लगी। सुबह-शाम सत्संग, दिनभर गुरु-भाइयों की सेवा, गुरुभक्ति, साधना आदि का अभ्यास करते हुए समय व्यतीत करने लगी। सं. 1839 वि0 में चरणदास के स्वर्गारोहण के पश्चात् 23 वर्ष तक गुरू महाराज के उपदेशों का प्रचार-प्रसार करते हुए सहजोबाई ने माघशुक्ला पंचमी विक्रमी संवत् 1862 (सन् 1805 ई0) में स्वर्गारोहण किया। अब तक सहजोबाई के पुण्य निधन पर बसंतोत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है।[94]

चरणदासी सम्प्रदाय की ख्याति-प्राप्त अविस्मरणीय साधिका सहजोबाई की रचनाएँ 'सहजप्रकाश' में संगृहीत हैं। गुरूचरणदास के व्यक्तित्त्व और ज्ञान से प्रभावित सहजोबाई ने अपने गुरु के सम्बन्ध में बहुत लिखा है। गुरु के आभार को इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है:[95]

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसो ना व्हराय।
सहजो कूॅ वा देस में, सतगुरु दई बसाय।।
सहजों गुरु रंगरेज-सा, सब ही कूँ रंग देत।
जैसा-तैसा बसन है, जो कोई आवै सेत।।

वह लिखती हैं कि गुरू के गुणगान के कारण ही सजप्रकाश की पोथी लिखी :

---

94. संत सहजोबाई ('दिल्ली' लेख, फरवरी-मार्च अंक से)-हिन्दी समाचार पत्र नवजीवन-12-4-1977 कृ0 गो0 बानर खडे जी गुरू जी।

95. डॉ0 नगेन्द्र ('संपादक')-हि0 सा0 का इतिहास पृ-387

गुरू अस्तुति के करन हूँ, बाढ्यों अधिक हुलास।
होते-होते हो गयी, पोथी सहजप्रकाश।।[96]

गुरू को हरि से भी अधिक महत्त्व दिया और बताया कि गुरू-माहात्म्य का शब्दों में वर्णन किया ही नहीं जा सकता-

सब परवत स्याही करू, धालूं समुंदर जाय।
धरती कागद करूं, गुरू असतुति न समाय।।[97]

उन्होंने संतों को बहुत महत्त्व दिया और कहा कि इनका साथ तीर्थ सदृश है, जिसमें नहाने से मुक्ति तथा चारों पदार्थों की प्राप्ति होती है। संतों की संगति से काग भी हंस हो जाता है। यथा-[98]

साध मिले दुःख सब गये, मंगल भए शरीर।
बचन सुना ही मिटि गई, जनम-मरन की पीर।।
सहजो संगत साध की काग हंस है जाय।
तीज के मच्छ अभच्द कूँ, मोती चुँगि-चुँगि खाय।।

संसार की नश्वरता, शरीरकी क्षणभंगुरता, सुख-दुख आदि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया जो वैराग्य पैदा करता है। इस संसार में अपना कोई नही है, अतः हरिनाम का स्मरण कर व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है। एक नमूना सहज प्रकाश का देखें :

जगत् तरैया भोर की, सहजो ठहरत नाहिं।
जैसे मोती आंस की पानी अगुँली माँहि।
(संत बैराग जगत् मिथ्या का अंग, दो0 10, पृ0- 36)

सहजो भज हरि नाम कूँ, तजों जगत् सू नेह।
अपना तो कोई नही, अपनी सगी न देह।।
(वैराग उपजावन का अंग, दो0 1, पृ0 16)।

---

96. सहजोबाई-सहजप्रकाश (निर्गुन-सर्गुन सशय निवारन भक्ति का अंग) पृ०-40
97. सहजोवाई- सहजप्रकाश (हरि ते गुरू की विशेषता) दो0 13, पृ-3
98 सहजप्रकाश (साधमहिमा), दो0 5एवं दो0 - 10, पृ०- 12

इस प्रकार गुरू की महत्ता, नाम-माहात्म्य, अजपाजाप, संसार का मिथ्यात्त्व और उसके प्रपंचों से दूर रहने की चेतावनी, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मान आदि का त्यागः कर्मफल पर विश्वास, प्रेम-तत्त्व का विधि-निषेध-निरपेक्ष स्थिति-बोध और ब्रह्म-तत्त्व का निर्गुण-सगुणनिरपेक्ष अनिर्वचनीय स्थिति का अनुभूतिपरक वर्णन इनकी वाणियों के प्रमुख विषय हैं। दोहा, चौपाई और कुण्डलिया छन्दों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है।[99]

आपकी भाषा में प्रांजलता, सरलता और स्वच्छता है। सहजोबाई की वाणियों की भाषा ब्रजभाषा है जिसमें राजस्थानी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। संस्कृत के तत्सम शब्दों से भाषा में प्रभाव क्षमता बड़ी है। शैली मनोहर तथा चुटीली है। यत्र-तत्र फारसी के भी शब्द आये हैं। मीरा की तरह इनकी पदावलियों में आराधक के प्रति प्रेम-दर्शन में सगुण कृष्ण भक्तों की शैली का प्रयोग हुआ है। एक पद देखे :

तुम गुनवंत मै औगुन भारी।[100]
तुम्हरी ओट खोट बहु कीन्हे, पतित उधारन लाल बिहारी।। आदि

वास्तव में उनकी आध्यात्मिक चिन्तनधारा निर्गुण-परक थी तथा वे उच्चकोटि की योग-साधिका थीं। संत-काव्य की सभी प्रवृत्तियाँ उनमें मिलती हैं। उनका निर्गुण ब्रह्म रूप, वर्ण, जाति-पाँति, कुटुम्ब, सभी सम्बन्धों से रहित हैं। देखे-[101]

रूप बरन वाके नहीं, सहजों रंग न देह।
मीत इष्ट वाके नही, जाति पाँति नहि गेह।।
सहजों उपजै ना मरै, सदवासी नहि होय।
रात दिवस तामें नही, सीत उस्न नहिं सोय।।
मात पिता वाके नही,नहीं कुटम्ब को साज।
सहजों वाहि न रंकता ना काहू को राज।।

---

99. (प्रधान संपादक) धीरेन्द वर्मा-हिन्दी साहित्य कोश भाग-2 पृ०-620
100. सहजप्रकाश (मिश्रित पद) पृ०-57
101. सहज प्रकाश (सच्चिदानन्द की अंग) दो0-3, एवं दो0-6, पृ०-37

## (14) दयाबाई :

संत चरणदास की शिष्या तथा सहजोबाई की गुरुभगिनी, दयाबाई का भारतीय संत-काव्यधारा को आगे बढ़ाने वाले निर्गुण संतों में विशिष्ट स्थान है। अपने जीवन-वृत्त के बारे में उन्होंने भी कुछ नहीं लिखा। इनकी प्रसिद्ध रचना 'दयाबोध' की तिथि 1761 ई0 बतायी जाती है[102]। वे मेवात (राजस्थान) के डेहरा गाँव में जन्मी, बाद में गुरू के साथ दिल्ली चली आयी थीं और वहीं संत-जीवन व्यतीत किया। परशुराम चतुर्वेदी इनकी मृत्यु संवत् 1830 वि0 वताते हैं[103]। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं तथा गुरू चरणदास की सेवा एवं सत्संग करती रही। इनकी वाणियों का स्वर वही है जो उनकी चचेरी वहन सहजोबाई या अन्य संतकवियों का है। इन्होंने परमतत्त्व को अजर, अमर, अविगत, अविनासी, अभय, अलख और आनन्दमय माना और उसे जड़चेतन सबमें व्याप्त बताया है। इनकी एक रचना बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से दयादास रचित 'विनय मालिका' भी प्रकशित हुई है। दयादास, दया कुँवर, दयाबाई एवं दया में अभिन्नता मानी जाती है। अतः विनयमालिका भी इन्हीं की रचना है जिसमें 'भक्ति दैन्य-भावापन्न हो गयी है और सेवक-सेव्य-भावोपासक सगुण कवियों की मनोभूमि को स्पर्श करने लगी है। आपकी अभिव्यक्ति सहज-सरल और प्रवाहमयी है'[104]। विनयमालिका की विनय देखते बनती है :

> भवजल नदी भयावनी, किस विधि उतरूँ पार।
> साहिब मेरी अरज है, सुनिय बारम्बार।।[105]

राम-कृष्ण से वे विनय-पूर्वक कहती हैं-

> कब को टेरत दीन भी, सुनौ न नाहि पुकार।
> की सखन उँचौ सुनौ, की विर्द दिया बिसार।।[106]

---

102. धीरेन्दवर्मा (मुख्य संपादक)- हिन्दी साहित्य कोश - भाग-2, पृ0-244
103. आ0 परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरीभारत की संत परम्परा पृ0 722
104. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान सम्पादक)- हि0साहित्य कोश भाग-2, पृ0-244
105. दयाबाई- विनयमालिका, दोहा-17, पृ0-15

अन्य संत-साधकों की भाँति उनका भी ध्येय काव्य अलंकृत करना न होकर आध्यात्मिक साधना एवं भगवत्प्रचार था। दयाबोध में ज्ञान तथा योग के विवेचन में गांभीर्य, सौष्ठव तथा विषय निर्वाह दृष्टव्य है। सर्वत्र सरलता, सहजता, स्वाभाविकता, देखी जा सकती है। गुरू माहात्म्य के बारे में वे लिखती हैं[107] :

चरनदास गुरूदेव जू ब्रह्म रूप सुखधाम।
तापहरन सब सुख करन, 'दया करत परनाम।
अंध कूप जग में पड़ी 'दया' करम बस आय।
बूढ़त लई निकास करि गुरू-गुन ज्ञान गहाय।।

प्रेमानुभूति एवं भावविह्वलता का सजीव चित्र देखते बनता है। यथा-[108]

पंथ प्रेम को अटपटों, कोइयन जानत वीर।
कै मन जानत आपनों, कै लागी जेहिं पीर।।
बौरी ह्वै चितवत फिरू हरि आवे केहि ओर।
छिन उढूं छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर।।

वस्तुतः निराकार ब्रह्म ही दयाबाई के उपास्य हैं। हाँ उनकी साधना में योग तथा प्रेम द्वारा प्राप्त ज्ञान की प्रधानता है। अजपाजाप निर्गुण-साधना का अन्तिम सोपान है जिसमें आत्मा ब्रह्म में इतनी लीन हो जाती है कि किसी बाह्य साधन की आवश्यकता ही नहीं रहती। रोम-रोम से भगवान् के नाम का जाप रात-दिन निकलता रहता है। अजपा जाप की प्रेरणा उन्हें गुरू चरणदास से मिली। वे कहती है :[109]

चरनदास गुरूदेव ने मो सूं कथ्यो उचार।
'दया' अहर निसि जपत रहु सोहं सुमिरन सार।।

---

106 दयाबाई- विनयमलिका-दो0-62, पृ०-19

107. दयाबाई - दयाबोध (गुरु महिमा का मत्र) दोहा-5 एवं दोहा-6, पृ०-1

108. दयाबोध (प्रेम का अंग) दो013, पृ० 6, एवं दो0 16, पृ० 7

109 दयाबोध (अजपा का अंग) दो0 1, पृ० 10

वस्तुतः जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब जीव-ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता :

ज्ञान रूप को भयो प्रकाश।
भयो अविद्या तन को नास।।
सूझ पर्‌यो निज रूप अभेद।
सहजै मिट्‌यो जीव को खेद।।
जीव ब्रह्म आँतर नहिं कोय।
एकै रूप सर्वघट सोय।।[110]

भुवनेश्वरनाथ 'माधव' लिखते हैं कि 'प्रभु प्रेम की दीवानी, श्री हरि चरणों की एकान्त अनुरागिणी, प्रेम और वैराग्य की मूर्ति दयाबाई ऐसे ही संतो में हैं जिनके स्मरण-मात्र से चित्त की काई धुल जाती है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और हरि के चरणों में प्रीति उमड़ आती है।[111] निश्चय ही दयाबाई से संत-साधना को एक नया जीवन, नवीन ज्योति, तथा नयी शक्ति प्राप्त हुई है।

ഇ●ഌ

110 दयाबोध (अजपा का अग) चौपाई -39, पृ० 13

111 श्री भुवनेश्वर नाथ माधव - संत-साहित्य, पृ० - 167

## अध्याय-3

# राष्ट्र का वर्तमान परिवेश : राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी चुनौतियाँ

भारत की सभ्यता और संस्कृति प्राचीनतम है। प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की ऋचाओं के साथ ही गीता, रामायण और रामचरित मानस के दोहों, चौपाइयों को अगर देखें तो उस युग के ज्ञान, विज्ञान, मान्यताओं के साथ ही सभ्यता-संस्कृति से जुड़े विविध पक्षों का आभास भी सहज में हो जाता है। तमाम तरह की भाषाओं, जातियों, सम्प्रदायों, शासन-पद्धतियों के बावजूद कश्मीर से कन्याकुमारी तक एक राष्ट्र और राष्ट्रीयता के जो सूत्र रहे हैं उसीका नतीजा है कि कई सदियों की गुलामी के बावजूद यहाँ के जनमानस ने संघर्ष के तेवर को बनाये रखा, धार्मिक, आध्याात्मिक, सांस्कृतिक चेतना की अलख को न सिर्फ जगाये रखा बल्कि एक से बढ़कर एक विपत्तियों का सहजता से सामना भी किया। विख्यात विदुषी डा0 एनी वेसेण्ट की स्पष्ट मान्यता थी कि 'बहु-क्षेत्र, बहुजाति, बहुपंथ और बहुभाषा वाला देश भारत वैदिक-काल से ही सांस्कृतिक चेतना के स्तर पर एक राष्ट्र के रूप में रहा है। छोटे-छोटे राज्यों के साथ ही एक साम्राज्य की राष्ट्रीय भावना आदि-काल से ही किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। होली, दिवाली और वैशाखी पर पूरा देश अगर झूम उठता है तो आवागमन का कोई साधन न होने के बावजूद हजारों-हजार की संख्या में लोग धर्मस्थलों पर माथा टेकने के लिए न जाने कितने उपाय करते रहे हैं।

देश में एक छोर से दूसरे छोर तक फैले इन तीर्थ-स्थलों ने अगर लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रखा तो कबीर, नानक, तुलसी, रैदास जैसे महान् संतो ने अपनी वाणियों से तमाम तरह की कुरीतियों का सामना भी किया। एक तरह ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे त्रिदेवों से जुड़ी धार्मिक गाथाएँ हैं तो दूसरी ओर राम, कृष्ण सरीखे अवतारों की लीलाओं का आकर्षण। कहीं शबरी के जूठे बेर खाने की ललक तो कहीं कर्म ही

जीवन है का आम संदेश देती गीता के सूत्र-वाक्य। कहीं आक्रान्ताओं से लड़ मरने का जीवन दर्शन, तो कहीं सीता, सावित्री और द्रोपदी की विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की जिजीविषा। कहीं सत्य, प्रेम और अहिंसा का संदेश तो कहीं वीरांगना लक्ष्मीबाई, भगतसिंह, आजाद, नेताजी बोस और महात्मा गाँधी जैसे क्रान्तिकारियों की शौर्यपूर्ण जीवनगाथा का प्रवाह। देश के किसी हिस्से में गौतम बुद्ध और महावीर की आध्यात्मिक चेतना का विस्तार तो कहीं शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द जैसी विभूतियों का जीवन दर्शन। अनेकता में एकता के इस अद्भुत संगम का ही नतीजा है कि दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा है फिर भी मौजूदा समय में जिस तरह की चुनौतियाँ देश के सामने हैं उसे नजर अंदाज भी नही किया जा सकता।

एक अरब आबादी को पार कर चुके इस देश की समस्याओं तथा राष्ट्रीय एकता से जुड़ी चुनौतियों को अगर-देखें तो जनसंख्या विस्फोट, निरक्षरता, गरीबी, बेकारी जैसी मूलभूत समस्याओं के साथ ही अलगाववाद, आतंकवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और भाषायी अराजकता, क्षेत्रवाद, वर्गवाद का विस्तार भी दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। झारखण्ड, उत्तराखण्ड और छत्तीसगढ़ सरीखे नये राज्यों के गठन के बावजूद अभी न तो छोटे राज्यों की मांग खत्म होने जा रही है और न ही खालिस्तान जैसी विकट समस्या के बाद भी बोडोलैण्ड, गोरखालैण्ड सरीखी समस्याएँ ही समाप्त होने वाली हैं। पृथ्कतावादी आंदोलनों का यह समूचा दौर जहां क्षेत्रीय विषमताओं के धरातल पर अपनी जड़े मजबूत करता जा रहा है, वहीं कश्मीर की स्वायत्तता का सवाल भी एक लम्बे समय से देश के एक महत्वपूर्ण इलाके को अशांत और उद्वेलित किये हुए है।

धर्म और राजनीति के घालमेल ने जहां बाबरी मस्जिद और राममंदिर जैसे साम्प्रदायिक मुद्दे पर देश का राजनीतिक समीकरण ही बदल दिया, वहीं शिवसेना, विश्वहिन्दू परिषद, बजरंगदल, जमायते इस्लामी, लस्करे तोइबा, हुर्रियत कान्फ्रेस जैसे संगठनों की बाढ़ सी आ गयी है। स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रीय एकता के आंतरिक स्वरूप के सन्दर्भ में अगर कहा कि निश्चय ही

भारत के पहाड़, नदियाँ, वन तथा विस्तृत खेत जिनसे हमें भोजन प्राप्त होता है- हमें सबसे प्यारे हैं। किन्तु हमारे देश के कोने-कोने में बसे लोग सर्वोपरि हैं। अतः भारत माता का अर्थ है– देश की कोटि-कोटि जनता और देश की विजय का अर्थ है– जनता की विजय। हम सभी भारत माता की संतान हैं। इस भावना के विकास से ही हमारी आँखों में राष्ट्रीय एकता की ज्योति लहरा सकती है[1] तो इसका सीधा मतलब यह है कि राष्ट्रीय एकता ढेर सारी सकारात्मक स्थितियों का प्रतीक है। यह शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक होने के साथ ही मूलरूप में भावनात्मक है। देश के इस विशेष सामाजिक आचरण से ही राष्ट्र की संस्कृति बनती है। इसलिए राष्ट्रीय एकता समवेत रूप से राष्ट्र का सुदृढ़ एवं सुसंगठित चरित्र ही है। यह समाज और राष्ट्र के स्वास्थ्य का परिचायक है मगर मौजूदा हालात से देश की किस तरह की तस्वीर उभरकर सामने आ रही है इसकी सहज में ही कल्पना की जा सकती है। ऐसी स्थिति में उन कारणों पर गम्भीरता से विचार करना जरूरी है जिनके चलते एकता-अखण्डता के इस स्वरूप को क्षति पहुँच रही है और सब कुछ बदशक्ल होता नजर आ रहा है। आजादी के पाँच दशक से अधिक गुजर गये तथा सवैधानिक स्तर पर एक गणतांत्रिक राष्ट्र होते हुए भी भावात्मक रूप से इसकी समग्रता अगर-स्खलित नजर आ रही है तो यह निश्चित रूप से आत्ममंथन, चिन्तन और निर्णायक पहल का दौर है।

पिछले 20-25 वर्षो में राष्ट्र के आंतरिक व्यक्तित्व और सामुदायिक मूल्यों में जो विघटन हुआ है उसके लिए केवल सरकारी कार्यकलापों पर दृष्टिपात करना ही काफी नहीं, बल्कि पूरे राजनीतिक परिदृश्य का आकलन जरूरी है। आज अगर ईसाई पादरियों की हत्याएं हो रही हैं, चर्चो पर हमले हो रहे हैं, जातिवादी आधार पर सामूहिक हत्याएं हो रही हैं अथवा अलगाववादी वजहों से लोग मारे जा रहे हैं, जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं तो यह राष्ट्रीय जीवन में इकट्ठा अंदरूनी मवाद और घाव का ऊपरी रूप मात्र है। ये महज फोड़े न होकर खून की खराबी के संकेत हैं। लोगों की सहनशीलता, सहिष्णुता अब हताशा और निराशा में बदल चुकी है। यही वजह है कि वह

1. इण्डियन यूनिटी· पृ० 121 (जवाहरलाल नेहरू भाषण)

किसी न किसी तरह से फूट पड़ने का रास्ता भी खोजती रहती है। कहीं गोहत्या के नाम पर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े के रूप में सामने आ जाती है, तो कहीं शुल्क-वृद्धि के कारण विद्यार्थी-आंदोलन की शक्ल में, कहीं जातिवादी हिंसा के रूप में, तो कहीं पानी बँटवारे को लेकर केन्द्र-राज्य के झगड़े के रूप में गणराज्य के अस्तित्व को ही चुनौती देती नजर आती है।

राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्त्वों के रूप में आंतरिक और बाह्य-शक्तियाँ समान रूप से सक्रिय हैं। विदेशी ताकतें नहीं चॉहती कि देश की राष्ट्रीय एकता अक्षुण्ण बनी रहे और समृद्धि बढ़े। यही कारण है कि आये दिन सीमा पर युद्ध एवं साम्प्रदायिकता की ज्वाला धधकती रहती है। पृथकतावादी और विघटनकारी तत्त्व किसी न किसी रूप में जम्मू कश्मीर, आसाम, मेघालय, मणिपुर, नागालैण्ड, पंजाब जैसे राज्यों को अपनी चपेट में लिए रहते हैं। आन्तरिक कारणों में अगर साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद, पृथकतावाद, क्षेत्रीय विषमता, अशिक्षा और बेकारी की महत्वपूर्ण भूमिका है तो बाह्य-कारणों में पड़ोसी देशों से मतभेद, सीमा-क्षेत्रों की अलगाववादी व आतंकवादी गतिविधियाँ, पूँजीवादी-साम्राज्यवादी विस्तार से जुड़े खतरे तथा बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों का आंतरिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाओं की भेदपूर्ण नीतियां, बौद्धिक सम्पदा अधिकार जैसे मामले प्रमुख हैं। और यह सन् 1947 में अंग्रेजी साम्राज्यवाद की विदाई के साथ ही देश-विभाजन की घटना से ही स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेजी साम्राज्य के इस रिक्त स्थान को भरने के लिए अमेरिकी पूँजीवादी-साम्राज्यवाद सक्रिय होगा। हुआ भी ऐसा ही क्योंकि अमेरिकी गुप्तचर संगठनों ने देश में दक्षिणपंथी तथा साम्प्रदायिक संगठनों को जिस तरह से मदद की, जगजाहिर है। सन्' 70 के दशक में सी0आई0ए0 व तत्कालीन प्रमुख जीन0ए0क्यूरन जूनियर ने ''अपनी[2] पुस्तक में स्पष्ट रूप से लिखा कि छत्तीस करोड़ भारतवासी एक नवीन राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। निश्चय ही यह एक ऐसी शक्ति है जिसका पश्चिमी जगत् के लिए विशेष महत्त्व है।'' उसने लिखा कि ''भारत एशिया का

सबसे बड़ा असाम्यवादी देश है, इसलिए उसे साम्यवादी खेमे में जाने से रोकना होगा क्योंकि तभी वह स्वतंत्र विश्व के लिए एशिया में आधार का काम करेगा। यही वजह है कि देश के दक्षिणपंथी हिन्दू साम्प्रदायिक संगठन आर0एस0एस0 का हिन्दुओं के नवीन राष्ट्र के उदय के लिए पश्चिमी देश हमेशा से स्वागत और समर्थन करते रहे हैं। प्रधानमंत्री और पार्टी अध्यक्ष के रूप में श्रीमती इंदिरा गॉधी व राजीव गांधी की हत्या के पूर्व तक कांग्रेस इस ताकत को रोकती रही है, रोक पाने में काफी हद तक सफल रही है मगर अब वह तस्वीर काफी धुँधली और अपने उद्देश्यों से दूर होती नजर आ रही है। अन्तर्विरोध, टूटन, आपसी कलह और दिशाहीनता के चलते वामपंथी व तीसरी ताकत से जुड़े दलों की भी लगभग यही स्थिति है। ऐसी हालत में अगर हालात सी0आई0ए0 प्रमुख की पुस्तक के अंश से मेल खाते हों तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नजर नहीं आती।

## (क) धर्मोन्माद : एक विडम्बना :

हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या भारतवर्ष की सबसे भयानक समस्या है।[3] साम्प्रदायिकता का जन्म कट्टर धार्मिकता की कोख से ही होता है। यह प्रवृत्ति सम्प्रदाय-विशेष अथवा धर्म-विशेष के अनुयायियों के मानस को इस कदर विकृत और विषाक्त बना देती है कि इसके प्रभाव में लोग घृणित व अमानुषिक कृत्य करने से भी नहीं हिचकते। धार्मिक सहिष्णुता, भाईचारा, सौहार्द और राष्ट्रीय एकता जैसे शब्द इस माहौल में अपना अर्थ खोने लगते हैं। राममंदिर-निर्माण के सवाल पर चाहें बाबरी मस्जिद के विध्वंस का मामला हो या सिख कट्टरवाद से जुड़ी वीभत्स घटनाएँ या फिर ईसाई पादरियों की हत्या अथवा हिन्दू-मुस्लिम दंगों से जुड़े नाना प्रकार के सवाल। इन सबका रास्ता एक ही ओर जाता है और वह साम्प्रदायिकता की ऐसी अमरबेल है, जो बिना किसी रोक-टोक के बढ़ती ही चली जाती है। हिन्दुओं के कट्टरवादी व साम्प्रदायिक

---

2. जीन ए0 क्यूरन जूनियर-मिलिटेन्ट हिन्दूइज्म इन इण्डियन पॉलिटिक्स :एस्टडी ऑफ द.आर.एस.एस.
3. संस्कृति के चार अध्याय · 281

तत्त्वों का कहना है कि जो लोग भारत की भौगोलिक सीमाओं से दूर जन्मी किसी विचारधारा या मत में विश्वास रखते हैं, उन्हें राष्ट्रीय नहीं समझा जा सकता। दूसरी ओर मुस्लिम कट्टरपंथियों का मानना है कि मुसलमानों को देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन से अलग रहना चाहिए, क्योंकि यह इस्लामी राज्य नहीं है। इसी वजह से जब परम्परा, संस्कृति, राष्ट्रवाद और नागरिकता की बात, ऐसे तत्त्वों के बीच होती है तो उनमें एक हीन-भावना घर कर जाती है और वे अपनी पहचान एक कट्टरपंथी मुसलमान के रूप में ही बनाये रखना चाहते हैं।

अल्पसंख्यक समुदाय के लोग उस समय भी अपने का अपमानित महसूस करते हैं जब सामान्य स्थिति में भी बार-बार उनकी देश भक्ति पर संदेह किया जाता है और नागरिकता के सवाल उठाये जाते हैं। खासतौर से पं0 नेहरू की मृत्यु के उपरान्त पिछले दशकों में भारतीयकरण का नारा साम्प्रदायिकता के इसी पक्ष की पुष्टि करता है। इससे देश के दो प्रमुख सम्प्रदायों में संदेह और कटुता की भावना लगातार बढ़ी है तथा राष्ट्रीय एकता की भावना में एक ऐसी दरार पड़ गयी है जो क्रमशः चौड़ी ही होती जा रही है। 'द बेसिस आफ इंडियन यूनिटी' नामक पुस्तिका में श्री निवासाचार ने इसी प्रवृत्ति का खुलासा किया हैः भारतीय जन समुदाय की पीढ़ियों से सुषुप्त धार्मिक तथा साम्प्रदायिक विषमताओं को अदृश्य विधियों से जगाया गया। मुसलमानों में यह बात भरी गयी कि उनकी राष्ट्रीयता हिन्दुओं से अलग है।[4] और इस देश में कुछ जातियों को छोड़कर सब हिन्दू हैं। हरिजनों, दलितों को भी यह बताने की कोशिश होती रही कि उनका सम्प्रदाय हिन्दुओं से अलग है, वे इसमें नहीं आते। अंग्रेजी शासन की कूटनीति का यह एक ऐसा वीभत्स पक्ष था जो आजतक मजबूती से जमा हुआ है। इसी का नतीजा है कि भारतीय जनमानस साम्प्रदायिकता के इस जहर से आज तक उबर नहीं सका है।

---

4. एस0 श्रीनिवासाचार- 'द वेसिस ऑफ इंडियन यूनिटी' पृ० 12

संविधान में धर्म निरपेक्षता की मुकम्मल व्यवस्था के बावजूद इस समस्या का समाधान हो गया हो, ऐसा नहीं है। इसी बीच योजनाबद्ध ढ़ंग से सिख समुदाय को भी हिन्दुओं से अलग सम्प्रदाय के रूप में उभारने की न सिर्फ चेष्टा हुई बल्कि सिख साम्प्रदायिकता के एक पौधे का बीजारोपण हुआ जो करीब डेढ़-दो दशकों से पंजाब जैसे सम्पन्न और खुशहाल इलाके को अपनी चपेट में लिये हुए है। यही पौधा 'खालिस्तान' की मांग के रूप में समूची राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किये रहा, श्रीमती इंदिरा गाँधी समेत अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को इसी के चलते अपनी जान तक गंवानी पड़ी। यह सही है कि हाल के वर्षो में 'खालिस्तान' से जुड़ा आतंकवाद मद्धिम पड़ चुका है मगर स्थितियां सामान्य और अनुकूल हो गयी हों, ऐसा नहीं है। अंग्रेजी हुकूमत के आरम्भिक 100 वर्षों का आकलन करें तो हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच की पुरानी कटुता समाप्ति पर थी। अंग्रेजी राज की स्थापना के पूर्व हिन्दू-मुस्लिम तनाव जैसी कोई समस्या भी यहाॅ नहीं थी। साम्प्रदायिकता और धर्मोन्माद की समस्या बर्तानवी कूटनीति की देन थी क्योंकि मुसलमानों की गतिविधियों पर नजर डालें तो अंग्रेजी राज से बाहर की देशी रियासतों में कभी भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं हुए। प्रसिद्ध लेखक तथा विचारक सव्यसाची की स्पष्ट मान्यता है कि इस देश में धर्मोन्माद की यह चरम अवस्था अंग्रेजी राज की देन है।"[5]

साम्प्रदायिक वैमनस्य और धर्मोन्माद को जगाने में अंग्रेजों ने किस चतुराई से काम लिया इसे अगर सरसरी तौर पर भी देखें तों 1906 में ब्रिटिश शासकों ने मुस्लिम लीग को खड़ा किया। 1921 में केरल के मालाबार क्षेत्र के मोपला मुसलमानों के उपद्रव को देखें तो यहीं से इनदो सम्प्रदायों के बीच जहर के अंकुर फूटने लगे। अंग्रेजों ने हिन्दुओं के खिलाफ मुसलमानों को न सिर्फ भड़काया बल्कि उनकी हर स्तर पर मदद भी की। आजादी मिलने के एक वर्ष पूर्व सन् 1946 से लेकर आजादी मिलने तक साम्प्रदायिकता का एक विशाल विष-वृक्ष तैयार हो चुका था। इस दौरान हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों में मरने वालों की संख्या हजारों में नहीं, लाखों में पँहुच गयी। इस

---

5 मुक्तधारा (हिन्दी पत्रिका, जून 1968 ई0 छपा उनका निबन्ध)

माहौल में हैवानियत का जो नंगा नाच हुआ, उसकी परिणति अंततः देश के-विभाजन और राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की जघन्य हत्या के रूप में हुई।

धार्मोन्माद की यह अवस्था स्वत· प्रवर्तित या स्वतः स्फूर्त हो, ऐसा नहीं है बल्कि विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच आपसी मेल-मिलाप, सद्भावना और विश्वास की भावना अगर किन्हीं कारणों से नष्ट कर दी जाय तो इस तरह की स्थितियों का जन्म तो अवश्यम्भावी है ही। और यह आधार साम्प्रदायिक हिंसा से उत्पन्न आतंक और नैतिक पतन की घटनाओं से ही तैयार होता है। जिन समुदायों में इस तरह के विघटनकारी तत्त्व सक्रिय हो जायें वहां यह आग जल्दी तैयार हो जाती है तथा हर वक्त धधकती भी रहती है। इसलिए साम्प्रदायिक दंगे राष्ट्रीय एकता के लिए सबसे गम्भीर खतरे हैं। इस घातक बीमारी के विकास में अशिक्षा, साम्प्रदायिक संगठन और राजनीतिक अवसरवादिता की भूमिका हमेशा से महत्त्वपूर्ण रही है। यही स्वार्थी तत्त्व अपने हितों की रक्षा के लिए हिन्दू-मुस्लिम कार्ड का इस्तेमाल आये दिन करते हैं तथा अब इसमें राजनीतिक दलों की हिस्सेदारी भी बढ़ गयी है। कतिपय राजनीतिक दलों की साम्प्रदायिक राजनिति को अगर देखें तो यही अब उनकी सत्ता प्राप्ति का प्रमुख आधार हो गया है। एक ओर कतिपय राजनीतिक दल 'हिन्दू राष्ट्र' की स्थापना का नारा देकर साम्प्रदायिकता की आग को हवा देते हैं तो दूसरी ओर कुछ दल इस्लामी राज की स्थापना में धर्म की सार्थकता का राग अलापते रहते हैं। नतीजा यह है कि राष्ट्रीय एकता पर आसन्न संकट बढ़ता ही जा रहा है।

सन् 1947 में देश के विभाजन और महात्मागांधी की हत्या से पूर्व भी साम्प्रदायिक राजनीति अपने आप यह स्पष्ट कर देती है कि इसकी जड़े समाज में कितनी गहरी हैं तथा इसके दूरगामी नतीजे क्या होते हैं। 1930 तक मुसलमान भारत में ही एक राष्ट्र के रूप में अपने भविष्य की कल्पना करते थे। जिन्ना के 14 सूत्रीय कार्यक्रम में भी हिन्दुओं के साथ सत्ता में सहभागिता की बात थी। विवाद केवल मुसलमानों को विशेष प्रतिनिधित्व और उनके हितों को संरक्षण देने के प्रश्न पर था।

1932 में इकबाल ने सर्वप्रथम दो राष्ट्रो के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राष्ट्र थे। 1933 में चौधरी रहमत अली ने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान का नाम देकर दो राष्ट्रों की यह लड़ाई और तेज कर दी। 1937 में निर्वाचन के बाद जब सत्ता में सहभागिता के प्रश्न पर कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता नहीं हुआ तो मुसलमानों में यह प्रचारित किया गया कि हिन्दू बाहुल्य शासन में उनका भविष्य सुरक्षित नहीं है।

1940 के लाहौर अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की मांग उठा दी। लीग की यह मांग अंग्रेजों ने सन्' 47 में पूरी कर दी। भारतीय स्वतंत्रता-अधिनियम ने ब्रिटिश भारत का विभाजन करके मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में पाकिस्तान के नाम से एक स्वायत्तशासी डोमिनियन की स्थापना कर दी। विभाजन के बाद भी बड़ी संख्या में मुसलमान भारत में रह गये, वे देश-विभाजन के पक्षधर नहीं थे, मगर यहीं पर समस्या का अंत हो गया हो, ऐसा नहीं है। 'हिन्दू राष्ट्र' और 'रामराज्य' के नाम पर कतिपय राजनीतिक व साम्प्रदायिक दलों ने जो अभियान छेड़ा वह पूरी तौर पर अभी भी जारी है तथा देश के अनेक इलाकों को अशान्त किये हुए है। इस बीच अनेक साम्प्रदायिक दंगे भी हुए तथा दंगों की राजनीति के आधार पर ही गठबंधन की नयी तरह की राजनीति भी अस्तित्व में आयी। ऐसे में दंगों के चरित्र का अगर अध्ययन करें तो स्पष्ट है कि दंगों के पीछे हिन्दू और मुस्लिम भाई की आड़ में निहित स्वार्थी तत्त्व ही सक्रिय रहते हैं।

पूँजीवाद और निहित स्वार्थी तत्त्वों का यह गठजोड़ साम्प्रदायिकता को न सिर्फ मजबूत बनाये हुए है बल्कि इसी की आड़ में शोषण और सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों को उभारकर, इस असंतोष को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाने में भी देर नहीं लगती। फलस्वरूप गरीब जनता जहां धर्मोन्माद में हिन्दू-मुसलमान, अगड़ा-पिछड़ा, दलित और सवर्ण की भावना का शिकार हो जाती है, वहीं जतिवादी हिंसा भी एकखास तरह की साम्प्रदायिक सोच को ही प्रतिविम्बित करने लगती हैं।

महात्मा गाँधी से लगातार इंदिरा गाँधी तक ने अपने भाषणों में साम्प्रदायिकता को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा माना। महात्मा गाँधी ने तो यहाँ तक कहा कि ''धार्मिक अल्पसंख्यकों को अगर भारत में तिरस्कृत और असुरक्षित स्थिति में रहने को बाध्य किया जाता है तो निश्चय ही वह मेरे सपनों का भारत नहीं है।''[6] सम्भवतः यही वजह थी कि साम्प्रदायिक आतंकवाद ने उन दोनों राष्ट्रीय विभूतियों को अलग-अलग कालखण्ड़ों में निगल लिया। यह भी सही है कि ये समस्याएं इतनी गम्भीर न होती यदि देश में निश्चित आर्थिक राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित दलीय व्यवस्था विकसित हो जाती, वैचारिक सोच के अभाव में राजनीतिज्ञ अपने हितों की रक्षा के लिए जाति, धर्म, सम्प्रदाय, क्षेत्रीयता पर आधारित संगठनों को वरीयता देते हैं, लोग भी इसी में अपने हितों की तलाश करने लगते है और अंत में नतीजा यह निकलता है कि साम्प्रदायिक धर्मोन्माद की फसल बढ़ती ही चली जाती है। वर्तमान स्थिति का सार यही है कि ब्रिटिश शासन काल में जिस तरह की विषम आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व अलगाववादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन की नीति बनी, वह आजादी के बाद भी पल्लवित होती रही। यही वजह है कि राष्ट्रीयता, एकता की भावना न तो विकसित हो सकी और नही किसी राजनीतिक दल के एजेण्डे में इसकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका ही है।

## (ख) भाषायी-पाखण्ड :

आजाद भारत में भाषाओं पर आधारित समाज, उससे जुड़ी सोच और मानसिकता तथा भाषायी विवाद से उपजे आक्रोश और अलगाववादी प्रवृत्तियों की ओर अगर देखें तो देश में 18 अधिकृत राजकीय भाषाओं की मान्यता है। यह बहुभाषा-भाषी देश के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इन 18 भाषाओं के अतिरिक्त 1652 मातृभाषाएं हैं जिनमें से 33 भाषाएं ऐसी हैं जो एक लाख से अधिक लोगों द्वारा बोली जाती हैं। 18 अधिकृत भाषाओं को अगर क्रमवार देखें तो 1. हिन्दी 2. बंगाली, 3. पंजाबी 4. तमिल 5. उर्दू 6 असमिया 7. उड़िया 8.कन्नड़ 9. कश्मीरी 10. गुजराती

---

6 महात्मागाँधी- इण्डियन नेशन, (29 सितम्बर 1968 ई0) गाँधी का विचार उद्धरण

11. तेलगु 12. मराठी 13. मलयालम 14.सस्कृत 15. सिंधी 16. कोंकणी 17. नेपाली 18. मणिपूरी भाषाओ में केवल तीन संस्कृत, कश्मीरी और सिंधी को छोड़कर शेष विभिन्न राज्यों की राजकीय भाषाएं हैं। विश्व में इस समय हिन्दी बोलने वालों की संख्या चीनी और अंग्रेजी बोलने वालों के बाद तीसरे नम्बर पर है। चीनी भाषा बोलने वालों की संख्या एक अरब, अंग्रेजी बोलने वालों की संख्या 44 करोड़ तथा हिन्दी भाषियों की संख्या 35 करोड़ है। यूनेस्कों ने भी इसी आधार पर अब हिन्दी को मान्यता देदी है।

भारतीय भाषाओं का यह सामाजशास्त्र ऊपरी तौर पर तो आकर्षक और लुभावना है मगर भाषायी आधार पर जिस तरह का मानसिक विभाजन बढ़ा है वह अब एक खास तरह की शक्ल अख्तियार करता जा रहा है। कारण राजनीतिक हों या सामाजिक, मगर कई प्रान्तों में, खासतौर से हिन्दी भाषियों के प्रति दुराग्रह बीच-बीच में जिस तरह से परिलक्षित होता है, उसे स्वस्थ तो कतई नहीं माना जा सकता। हिन्दी की देवनागिरी लिपि को संघ की राजकीय भाषा के रूप में मान्यता है तथा भाषावार राज्यों के गठन की प्रक्रिया में ही क्षेत्रीय भाषाओं को राज्यों की राजकीय भाषाओं के रूप में माना गया। इसके साथ ही अंग्रेंजी को कार्यपालिका और न्यायपालिका की अधिकृत भाषा का दर्जा भी दिया गया।

हिन्दी की उपेक्षा और इसके प्रति दुराग्रह को अगर छोड़ भी दें तो राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्त्वों में कट्टर भाषावाद की भी प्रमुख भूमिका है। सन्' 61 से ' 70 के बीच देश में भाषा के नाम पर पारस्परिक वैमनस्य चरम पर था। भाषा के नाम पर कई राज्यों में संविधान की प्रतियां फूंकी गयी, रेलगाड़ियों, सिनेमाघरों में आग लगायी गयी तथा विविध भाषा-भाषी समुदायों में झगड़े खड़े किये गये। कभी तमिलनाडु और बंगाल में हिन्दी-विरोधी दंगे हुए तो, कभी बंगला के विरुद्ध असम में उपद्रव, अपहरण व बलात्कार की घटनाएँ तक हुई। शिवसेना रूपी जहर का प्रादुर्भाव मराठी,

गैर-मराठी, महाराष्ट्री-गैर-महाराष्ट्री की तर्ज पर ही हुआ है। वस्तुतः धर्म के बाद भाषा ही ऐसा तत्त्व है जो जनमानस को उद्वेलित करने में सफल है।

भाषाबार राज्यों के पुनर्गठन की दोषपूर्ण प्रक्रिया के चलते अपने ही देश में असमी, उड़िया, बंगला और हिन्दी, मराठी को लेकर इस कदर झगड़े हुए कि बंगाल, असम, उड़िसा के रिश्ते तो अभी तक सहज नहीं हैं। दरअसल भाषा ही वह तत्त्व या माध्यम है जो हमें एकता के सूत्र में बांध सकती है या बाट सकती है। भाषा यदि प्रेम बंधन है तो पारम्परिक वैमनस्य की दीवार भी है। भाषावाद का नशा इतना गहरा होता है कि समाज को कई पीढ़ियों तक इससे न तो मुक्ति मिल पाती है और न ही देश इसके दुष्परिणामों से बचा ही रह पाता है। जिस वक्त केन्द्र की कांग्रेस सरकार भाषावार राज्यों के गठन के सवाल पर राज्यों के परस्पर सहयोग और एकता की भावना के विकास की रणनीति बना रही थी, तमाम क्षेत्रीय और छोटे दल भाषा की रक्षा के नाम पर राष्ट्र को ही खण्डित करने में व्यस्त थे। आंध्र राज्य के गठन के पश्चात् ऐसे तत्त्वों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला तथा भाषावाद ने राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा का काम किया। यही वजह है कि राष्ट्रीय क्षितिज पर सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता के रूप में ख्याति भी कुछ गिने-चुने राजनीतिज्ञों को ही मिल पायी। श्री एच0डी0 देवगौड़ा अगर प्रधानमंत्री बन भी गये तो उन्हें सिर्फ भाषागत आधार पर तमाम तरह के अन्तर्विरोधों, आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। कांग्रेस के अलावा अगर कोई अन्य दल आजतक सभी राज्यों में प्रतिनिधित्व अथवा नेतृत्व नहीं कर सका है तो इसकी एक बड़ी वजह भी यही है।

महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय भाषा-समस्या के संदर्भ में ठीक ही कहा था कि "भाषा का प्रश्न वस्तुतः एक महान् तथा महत्त्वपूर्ण समस्या है। यदि सभी नेता अन्य कार्यो को छोड़कर इसी समस्या के समाधान में जुट जायें तो कहीं सफलता मिलने की सम्भावना हो सकती है"।[7] डॉ0 राममनोहर लोहिया ने इसी के मद्देनजर त्रिभाषा फार्मूले की बात

---

7. हरिवश तरूण- भारत की राष्ट्रीय एकता से उद्धृत पृ0 143

की थी। अंग्रेजी, हिन्दी के साथ ही राज्य की क्षेत्रीय भाषा के अध्ययन और प्रचार-प्रसार की मुकम्मल व्यवस्था तथा सभी भाषाओं को सम्मान के आधार पर ही हम एकता-अखण्डता को बचाये रखने की वकालत और हिमायत भी कर सकते हैं। इस दृष्टि से अगर देखें तो राष्ट्रभाषा, क्षेत्रीय भाषा और जनभाषा की समस्याएँ बढ़ती ही जा रही हैं तथा कट्टर भाषावाद ने हमारी एकता को कुंठित करना भी शुरू कर दिया है।

## (ग) जाति-वर्ग एवं क्षेत्रवाद का विष :

जाति-वर्ग के इस विष को जन्म देने वाले तत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते है : ''हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है उसे जनसाधारण के कब्जे में जाने दो और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए प्रायश्चित भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डँसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।''[8]

वर्ग, वर्ण अथवा जातिमूलक समाज व्यवस्था से जुड़े 'चातुर्वर्ण्य' का उल्लेख सबसे पहले[9] ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में मिलता है, फिर आगे चलकर महाभारत, गीता, वाल्मीकि रामायण में भी इसका उल्लेख है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों की अवधारणा चाहे जिस महान् लक्ष्य को सामने रखकर की गयी हो मगर यही व्यवस्था आगे चलकर जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। पूर्व की वर्ण व्यवस्था तो श्रम-विभाजन के आधार पर थी जो बाद में श्रमिकों के विभाजन में बदली और सम्प्रति विकृत जाति-व्यवस्था के रूप में उपस्थित है। चातुवर्ण्य-व्यवस्था ने कृषि, दस्तकारी और समाज की सेवा करने वालों को शूद्र, अछूत व चांडाल बना दिया। उद्योग-व्यवसाय से जुड़े लोग वैश्य तथा समाज और देश के संचालन, नीति-निर्धारण का दायित्त्व

---

8 दिनकर संस्कृति के चार अध्याय (से उद्‌धृत) पृ०- 508

9. ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद् बाहू राजन्य कृत.।
उरुतदस्य यद्वैश्य पद्‌भ्या शूद्रोऽजायत।। ऋग्वेद-10। 90। 12
चातुर्वण्यं मया सृष्ट गुणकर्म-विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमब्यम् ।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' अध्याय-4 श्लोक 13.

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वर्ग ने संभाला। वर्ग-विभाजन की मौजूदा धर्मनिरपेक्ष धारणा को देखें तो अनुसूचित जाति, जनजाति-वर्ग, दलित और पिछड़ा-वर्ग तथा अत्यन्त पिछड़ा-वर्ग, अल्पसंख्यक-वर्ग आदि हमारे सामने हैं जिन्हें वामपंथी और समाजवादी विचारधारा के तहत श्रमिक व सर्वहारा-वर्ग और सामन्त-वर्ग के रूप में माना गया है।

आर्थिक विषमता से जुड़े समूह की चर्चा अगर हो तो इसमें तो सभी जातियों, वर्गो, सम्प्रदायों के लोग शमिल हैं मगर यहाँ जो वर्ग-विभाजन है वह पूरीतौर से जाति-विभाजन की बुनियाद पर टिका है। यही वजह है कि 1885 ई० में मद्रास सरकार ने 'ग्राण्ट इन एड' कोड बनाकर दलित वर्गों की हालत में सुधार की रणनीति बनायीं। इसी राज्य में 1921 में निर्बल और दलित वर्गों के लिए नौकरियों में वरीयता देने का प्राविधान हुआ। 1918. में मैसूर के महाराजा ने एक कमेटी बनाकर इन वर्गों को प्रशासन में प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की। 1919 में दलित वर्गों के सुव्यवस्थित सुधार हेतु 'चेम्सफोर्ड रिफार्म' ने कुछ कदम उठाये। फिर 1950 में तो संविधान का पहला संशोधन ही इन वर्गों को आरक्षण देने के लिए हुआ।

बीते वर्षो में आरक्षण को लेकर जो टकराव एवं आंदोलन पूरे देश में हुआ उसके चलते सामाजिक-आर्थिक विषमताओं, प्रशासनिक और राजनीतिक ढांचे, समाज के पुनर्गठन और शिक्षा में सुधार से जुड़े मुद्दे राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा में आये, मगर वर्ग संघर्ष की परिणति जिस तरह से जातिवाद के रूप में हुई उसका सीधा असर यह है कि पूरा देश इसकी तपिश में झुलस रहा है। वर्ग, क्षेत्र और जाति का यह घालमेल अब एक भयावह विघट्नकारी तत्त्व के रूप में हमारे सामने है। इसी वर्गवाद और क्षेत्रवाद ने अगर तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कषगम को जन्म दिया तो महाराष्ट्र में शिवसेना, लाल सेना, मतंगसेना, बंगाल में विजया सेना, क्रांतिसेना, पंजाब में खालिस्तान कमाण्डों फोर्स, पंथिक कमेटी, बब्बर खालसा, अकाल सेना, बिहार में कुंवर सेना, आदिवासी सेना, रणवीर सेना, तारिक सेना, झामुमों, आई0पी0एफ0, दलित सेना, लाल सेना, एम0सी0सी0 प्रभृति सक्रिय हैं।

वर्ग-संघर्ष के नाम पर जातियों का संघर्ष इतनी चरम अवस्था पर है कि बिहार, आसाम, त्रिपुरा, बंगाल, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में सामूहिक नरसंहार और जातीय उत्पीड़न की घटनाएँ अब आम बात हो गयी हैं। यह समूचा संघर्ष इन वर्गों, जातियों के उत्थान से जुड़ा हो तो भी गनीमत है मगर जिस संकुचित और क्षुद्र भावना की तस्वीरें इस संघर्ष में नजर आती हैं वे डरावनी और भयावह हैं।

जातीय संघर्ष की आड़ में क्षेत्रवाद और वर्गवाद का यह ताण्डव कमोवेश समस्त राज्यों और दलों को अपनी चपेट में लिये हुए है। अब तक हिंसा, लूट, दुराचार, उत्पीड़न और नरसंहार की जितनी घटनाएं हुई हैं सबमें किसी न किसी राजनीतिक दल अथवा नेता की छाया स्पष्ट रूप से नजर आती है। अधिकतर दलों की तो राजनीति ही इसी एक सूत्रवाक्य पर आधारित हो गयी है कि हमे अपने समाज की रक्षा और पहचान के लिए ही जीना-मरना है। देश, समाज, एकता, सामाजिक और साम्प्रदायिक सौहार्द जैसे शब्द तो इस कदर बेमानी हो गये हैं कि अब कुछ महापुरूषों, संतों, समाज-सुधारकों, विद्वानों की क्षमता और प्रतिभा का मूल्यांकन भी जातीय आधार पर ही होने लगा है।

आर्थिक विषमता और विपन्नता का संकट तो इस लड़ाई को तेज करने में आग में घी का काम कर ही रहा है मगर 'मण्डल-कमण्डल', 'राम' और 'बाबा' के चक्कर में जिस तरह से सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों की बलि चढ़ रही है उससे किसी स्वस्थ, मजबूत और सम्पन्न राष्ट्र की कल्पना तो सम्भव ही नहीं है। जाति अगर ठीक है तो सब कुछ ठीक है, धर्म अगर बचता है तो सब कुछ बचता है- इस भावना के फेर में कथित हिन्दू समाज इस तरह पड़ा कि देश, जाति, धर्म और संस्कार के नाम पर सिर्फ उसकी ठठरी ही बच गयी है। बिडम्बना यह है कि जातिवादी राजनीति इसी ठठरी को जिंदा करने के प्रयास में कई नयी तरह की दुर्भावनाओं को भी जन्म दे रही है। मजदूर, किसान, हरिजन, सवर्ण, पिछड़ा, सम्पन्न और भूमिहीन के चक्कर में यह देश अंदर से खोखला और प्राणहीन होता जा रहा है तथा समाजवाद की अवधारणा इसी भीड़ में न जाने कहाँ गुम हो गयी है।

अध्याय -4

# संतो की वैचारिकता एवं सामाजिक परिवेश

## (क) वैचारिकता एवं परिवेश :

भारतीय संतों की वैचारिक परम्परा का इतिहास किसी राजा-महाराजा का गुण-वर्णन-विशेष और उसकी विरुदावली का गायन नहीं था अपितु उनकी वैचारिक परम्परा का उद्देश्य व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के अन्दर एक ऐसी आत्मशक्ति का विकास था, जो नैतिक मूल्यों, सामाजिक आदर्शों एवं देश-धर्म के प्रति कर्तव्य और उन कर्तव्यों के मूल में छिपी उस मंगलकारी भावना से अनुप्राणित था, जिसको आचरित करने पर ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ होने के पूर्व प्राप्त साहित्य के प्रधानतः छः अंग थे- डिंगल कवियों की वीर-गाथाएँ, निर्गुणिया संतों की वाणियाँ, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधकों के पद, रामभक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कविताएँ, सूफी-साधना से पुष्ट मुसलमान कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों के रीति-काव्य। संत-साहित्य और उसकी विविध धाराएँ बौद्धधर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुनः स्थापना से उत्पन्न क्रान्ति का परिणाम था जो धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुआ था। बौद्ध-धर्म का प्रसार प्रायः विदेशियों में ही ज्यादा हुआ, क्योंकि सनातन आर्य-धर्म वेद को ही प्रामाणिक मानता था। सन् ईसवी के आठ-नौ सौ वर्ष बाद हमारे देश में वैदिक-पुरावैदिक-धर्म की पताका पुनः फहराने लगी थी। जनता में धर्म-प्रचार करने हेतु पुराणों की सहायता ली जाने लगी। ये पुराण वैसे तो मूलतः संस्कृत में थे, लेकिन कथावाचक लोग इनकी व्याख्या लोकभाषा में करते थे। चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार 'यह वही समय था जब संस्कृत भाषा के प्रचार में शांकर-मत की विजय से सहायता मिली होगी।[1] आचार्य शंकर का समय

---

1 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-3, पृ0 57-58

ई0 की 8वीं शती था। उनके विचारों का प्रभाव सर्वसाधारण पर पड़ा। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' का उनका दर्शन ब्रह्म-जीव और लोक-परलोक सम्बन्धी विचारों को एक ऐसे वैचारिक धरातल पर ले गया जहाँ मानव ने इस तथ्य पर विचार करना शुरू किया कि मैं कौन हूँ, यह कौन है, मैं कहाँ से आया हूँ। इस तत्त्व चिन्तन ने परवर्ती साहित्य को, जो विभिन्न लोकभाषाओं में संतों द्वारा लिखे गये, बहुत प्रभावित किया।

मध्यकाल का सामाजिक परिवेश एवं संतों की वैचारिकता का विकास निर्गुणिया संतों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़-फटकार, अक्खड़पना, सहजशून्य की साधना, योग-पद्धति और भक्ति-मूलक रचनाओं के माध्यम से जनसाधारण के समक्ष आया। मध्यकालीन हिन्दू-समाज के दो रूप या पक्ष थे, एक वह जो शास्त्रों का समर्थक था और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों, मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर था। स्वानुभूति का यह पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। शास्त्र की दोहाई देते रहने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भरता संत-मत में श्रेयष्कर है। यही वह आस्था, जिसके कारण शत्रु के प्रति भी सहिष्णुता के भाव का उदय होता है, और यथोचित उदार व्यवहार का शुभारम्भ होता है।[2]

उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदान्त भी विकसित हुआ। इनमें समन्वय स्थापना हेतु बादरायण (ई0 788-820) ने शारीरिक भाष्य लिखा। कुमारिलभट्ट ने भी आचार्य शंकर की तरह हमारी चिन्ताधारा को प्रभावित किया। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या-प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वेत, शुद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के विचार यथावत रहे।

संतमत के अनुसार ईश्वर और मनुष्य के मध्य सम्बन्ध-स्थापित करने का एक सशक्त माध्यम धर्म है। जाति-पाँति, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष हो नैतिक

दायित्व का निर्वाह करना ही धर्म है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाजपरक है और धर्मसाधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। साधना का विकास रूचि, शिक्षा और संस्कार के द्वारा कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं- देवाराधन, संस्कारमूलक क्रिया तथा नित्य नैमित्तकादिकर्म। देवाराधन के भी दो रूप हैं-आत्मविश्वासमूलक योग और आराध्यानुग्रहमूलक भक्ति। आत्म-रक्षा की वृत्ति ने मानव की देवाराधन की ओर अग्रसर किया, फलतः मंगलकारी शक्तियों को व्यक्तित्त्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्‌देश्यों, विचारों तथा संवेदनाओं से सम्पन्न भावापन्न मान लिया गया। मध्यकालीन संत-साधना का सगुण-साकार रूप इसी का परिणाम है।

मध्यकालीन संतों की वैचारिकता, सत्य के वैचारिक चिन्तन एवं अनुभूति से उपजी इतिहास की उन घटनावलियों पर आधारित थी, जिसने विभिन्न मत-मतान्तरों, धर्मों एवं उन पर चलने वाले लोगों के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को बहुत प्रभावित किया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, पुराण एवं महाकाव्यों के पश्चात् देश में जो राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिवर्तन हुए उसने रूढ़ियों, मत-मतान्तरों एवं सामाजिक बन्धनों से ऊपर लोगों को सोचने हेतु विवश किया। आक्रमण-प्रत्याक्रमण, छल-प्रपंच एवं राजनीतिक संघर्षों से उपजी पीड़ा ने धर्म के नाम पर व्याप्त रूढ़ियों, प्रथाओं एवं सामाजिक जीवन के प्रवाह को छिन्न-भिन्न कर डाला था। मुगल आक्रमण एवं उसके बाद की परिस्थितियों ने विविध भारतीय-धर्मों, मतों एवं उनके अनुयायियों को अपने अस्तित्त्व की रक्षा-हेतु उद्विग्न कर दिया था।

सन् 1343 से 1643 ई0 तक की राजनीतिक सत्ता दो प्रमुख मुस्लिम वंशों– पठानवंश एवं मुगल वंश के संरक्षण में रही। फ्लतः विजित और विजेता में संघर्ष किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा। भारतीय समाज वर्णों, जातियों की विविधतामय संस्कृति

---

2 आचार्य परशुरामचतुर्वेदी- भक्तिकाल की पूर्वपीठिका- (सं0 नगेन्द्र- हिन्दी साहित्य का इतिहास से उद्‌धृत), पृ0- 114

से युक्त था। समय-समय पर बाहर से आने वाली मानव-मंडलियों के धार्मिक विश्वास, आचार-विचार से संघर्ष भी होता रहा। कालान्तर में उनमें सामंजस्य की भावना और समन्वय की चेतना लक्षित होने लगी। इस चेतना को जनसाधारण तक ले जाने और अपने विचारों से उसे एक नवीन समन्वयात्मक रूप देने में संतों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धर्मपरिवर्तन, आचार-पद्धति एवं धार्मिक विश्वासों के द्वन्द्व से पीड़ित जनता को धर्म के वास्तविक रूप की अनुभूति कराने एवं सौहार्द की भावना से विविध धर्मानुयायियों को जोड़ने हेतु संतों ने अपनी वैचारिक नीतियों के द्वारा समाज को जो सन्देश दिया, उसने आमजनता से लेकर प्रबुद्ध वर्ग को भी सोचने को और संतों के मत के महत्व को समझने हेतु विवश कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासकृत कवितावली की यह पंक्ति तत्कालीन सामाजिक विद्रूपता के प्रति तुलसी के ही भाव को नहीं अपितु तत्कालीन आम जनता के विचारों का भी प्रतिनिधित्व करती है :[3]

> खेती न किसान को, भिखारी को न भीखभली,
> बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
> जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
> कहैं एक एकन सो कहाँ जाई, का करी।।

परिस्थितिजन्य विवशताओं से उत्पन्न सामाजिक पीड़ा को संतो ने अपने धार्मिक अनुभूतियों के द्वारा एक दिशा देने का प्रयास किया। विविध मतों के संतों के विचारों का प्रवाह भिन्न होते हुए भी उस एक ही तत्त्व की अनुभूति का संदेश देता है, जो सबका मूल है। मध्य-युग के संतों के मत, साधना-पद्धति, और आचार-विचार-सम्बन्धी नाना मतभेदों के साथ भी एक साम्य है। इसी साम्य के कारण मध्ययुग का सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य एक विशेष श्रेणी का साहित्य हो सका है। कुछ बातें तो ऐसी थी कि प्राचीनतर संतों में भी विद्यमान थी और मध्ययुग के सभी संतों ने उन्हें समान भाव से पाया था।[4]

---

3. कवितावली- पृ०- 52
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग- 3, पृ०- 104

संत-मत और उनके वैचारिक विमर्श का मूल लक्ष्य भक्त का भगवान् के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। भगवान् या ईश्वर इन संतों की दृष्टि में कोई शक्ति या सत्तामात्र नहीं है अपितु एक सर्वशक्तिमान व्यक्ति है, जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है, उद्धार कर सकता है और अवतार ले सकता है। निर्गुण संत-परम्परा हो या सगुण संत-परम्परा भगवान् के साथ उन्होंने किसी न किसी रूप में सम्बन्ध जरूर स्थापित किया। निर्गुण संत-शिरोमणि कबीर के ही शब्दों में "हे भगवान्! तू मेरी मां है, मैं तेरा बालक हूँ; मेरा अवगुण तू क्यों नहीं बख्स देता? पुत्र तो बहुत से अपराध करता है, किन्तु माँ के मन में वे बातें नहीं रहतीं। बालक अगर उसके केश हाथों में पकड़कर मारे तो भी माता बुरा नहीं मानती । बालक के दुःखी होने पर वह दुःखी होती है:[5]

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न औगुन बगसहु मोरा।
सुत अपराध करे दिन केते, जननी के चित न रहे न तेते।।
कर गहि केस करे जो धाता, तऊन हेत उतौर माता।।
कहे कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।।"

प्रसिद्ध निर्गुण संत दादू कहते हैं "हे केशव! तुम्हारे बिना मैं व्याकुल-हूँ, मेरी आँखों में पानी भर आया है, हे अन्तर्यामी, तुम अगर छिपे रहोगे तो मैं कैसे बच सकता हूँ? तुम स्वयं छिप रहे हो, मेरी रात कैसे कटेगी? तुम्हारे दर्शन हेतु मन तड़प रहा है।[6]

तुम बिना व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें, दूरि।।
आप अपरछन्न होई रहे, हम क्यों रैन बिहाइ।
दादू दरसन कारने, तलफ्तिलफि जिय जाई।।

सूरदास कहते हैं कि 'हे प्रभु ! तुम्हारी भक्ति ही मेरा प्राण है, अगर यही छूट गयी तो भक्त की प्राण रक्षा कैसे होगी? पानी बिना प्राण कहीं रह सकता है?

---

5 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-भाग-3, पृ० 104

6 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-3, पृ० 104

'तुम्हारी भक्ति हमारे प्राण।
छूटि गये कैसे जन जीवन ज्यों पानी बिन प्रान।।
(हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3 से उद्धृत, पृष्ठ-104)

निर्गुणिया संतों की वैचारिकता का जन्म रूढ़िवादी अंध-विश्वास की एवं प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। सच्चे निर्गुणिया कवि पंथ-निर्माण की प्रवृत्ति को हेय समझते थे। ये लोग अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न होते थे, सैकड़ों संत उनकी विलक्षणता से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन जाते थे। नामदेव, कबीर, धर्मदास, रैदास, दादू, रज्जब, सुन्दरदास, गरीबदास, यारी साहब, बुल्लां साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, दरिया साहब, मलूकदास, चरणदास, दयाबाई, सहजोबाई, तुलसी साहब, आदि संतों का चरित्र किन्हीं विशेष विकृत-विधानों, अन्धविश्वासों, और मिथ्याचारों से कलंकित नहीं था।

मध्यकाल के निर्गुणिया संतों के वैचारिक चिन्तन की विशेषता सारग्राहिता थी। उन्होंने अपने समय की समस्त प्रचलित धार्मिक, दार्शनिक विचारधाराओं और साधु-सम्प्रदायों के सारभूत तत्त्वों को 'अनुभौ' के द्वारा आत्मसात करके तथा उन्हें अपनी प्रतिभा के सांचे में ढालकर एक अभिनव रूप दिया। यह रूप उनकी मौलिक देन है। वे सत्य के अनन्य उपासक थे। उन्हें असत्य से घृणा थी। यही कारण है कि उन्हें जहाँ कहीं भी मिथ्यात्व दिखायी पड़ा, वहां उन्होंने उसका डटकर विरोध किया। सत्य के मंडन और झूठ के खंडन की उनकी यह प्रवृत्ति बहुत महत्वपूर्ण है।[7]

निर्गुणिया संत निर्गुणोपासक थे। उनमें निर्गुण-शब्द का प्रयोग अधिकतर द्वैताद्वैत-विलक्षण, हृदयस्थ यौगिक ब्रह्म के लिए हुआ। कुछ स्थलों पर तो वह निर्विशेष ब्रह्म का वाचक बनकर आया है। निर्गुण शब्द के इन दोनों अर्थों की दो परम्पराएँ उन्हें पृष्ठभूमि के रूप में प्राप्त हुई थीं। प्रथम अर्थ की परम्परा उन्हें नाथपंथियों से तथा दूसरे अर्थ की परम्परा उन्हें अद्वैत-वेदान्तियों से मिली थी। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने प्रचलित

---

7 डॉ० शं०के० आडकर · हिन्दी निर्गुण काव्यधारा की पृष्ठभूमि, पृ०- 34

साधनाओं में समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की थी।[8] यही कारण है कि उनकी साधना में ज्ञान, भक्तियोग और वैराग्य के समन्वित रूप पर ही विशेष बल दिया गया।

मध्यकालीन भारत का सामाजिक परिवेश अत्यंत जटिल था। इन संतों ने तत्कालीन समाज में प्रचलित जटिल विचारधाराओं, साधनाओं और साम्प्रदायिक आचारों के सहजीकरण का कार्य किया। बुद्धिवादिता, सदाचरणप्रियता, सामाजिक और आध्यात्मिक साम्यवाद, विचारात्मकता आदि उनकी अन्य प्रमुख उल्लेखनीय प्रवृत्तियाँ हैं। मध्यकाल में वैष्णव-साधना दो रूपों-निर्गुण और सगुण-रूप में विकसित हुई थी। निर्गुणोपासना पद्धति शुद्ध वैष्णव नहीं रह पायी। उस पर अपने युग की समस्त साधनाओं और विचारधाराओं का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। तंत्र-मत, नाथ-पंथ, और निरंजन-पंथ ने उसका स्वरूप ही बदल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि वह वैष्णव होते हुए भी उससे बिल्कुल भिन्न प्रतीत होने लगी। वस्तुतः सगुण और निर्गुण-धाराओं का मौलिक भेद रूपोपासना से सम्बद्ध था। दोनों में प्रधान भेद रूपोपासना के विषय में है। सगुणमार्गी भक्त ठोस-रूप के उपासक हैं। सूरदास कहते हैं :[9]

सुन्दर मुख की बलि-बलि जाउ।
लावन-निधि, गुननिधि, शोभा-निधि, निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ।।

निर्गुण संत-परम्परा के कवि हृदय में स्थित द्वैताद्वैत-विलक्षण, अलख, निरंजन निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। उनका यह निर्गुण ब्रह्म रूप-आकार से विहीन, पुष्प की गंध से भी सूक्ष्मतर और अनिर्वचनीय है।

जाकै मुंह माथा नहीं, नांहीं रुप और कुरुप।
पुहुप बास तैं पातरा, अैसा तत्त अनूप।।[10]

निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख प्रवर्तक कबीर एवं अन्य निर्गुणिया संतों को लोग 'ज्ञानाश्रयी', निर्गुनिया आदि कहते हैं। वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनियां होकर भी

---

8 डॉ० शं०के० आडकर हिन्दी निर्गुण काव्यधारा की पृष्ठभूमि, पृ०- 35
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली, भाग-5, पृ०- 359
10 कबीर-सग्रह (हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण : 2000), पृ०- 41

कबीरदास भक्त हैं और उनके 'राम' वेदान्तियों के ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों के भगवान् अधिक हैं। मध्यकाल के संतों के वैचारिक चिन्तन एवं उपदेशों को समझने के लिए सगुण संत-परम्परा की कुछ बातें बहुत महत्व रखती है। श्रीमद्भागवत में एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि- अखण्डानंद स्वरूप तत्त्व के तीन रूप हैः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्।[11]

इन स्वरूपों में जो ज्ञानाश्रयी भक्त है वे भगवान् के केवल चिन्मय रूप का साक्षात्कार करते हैं, और अपने ज्ञान द्वारा उस चिन्मय अंश में लीन होने का दावा करते हैं। ज्ञानाश्रयी भक्तों, संतों के मत में ज्ञान निराकार होता है तथा ज्ञाता और ज्ञेय के विभाग से रहित होता है। दूसरा स्वरूप परमात्मा का है। इस रूप के उपासकों में भक्ति और शक्तिमान् का भेद ज्ञात रहता है। यह स्वरूप योगियों का आराध्य है। अखण्डानंद स्वरूप तत्त्व का तीसरा रूप भगवान् का है। यह भगवान् परिपूर्ण सर्वशक्ति-विशिष्ट है। भगवान्-रूप के उपासक का लक्ष्य भगवान् के प्रेम की प्राप्ति है। मोक्ष अर्थात भगवान् के एक अंश में लीन होना इस मत के भक्तों को अभीष्ट नहीं है। मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं है, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है– 'प्रेमः पुमर्थो महान्'।

वस्तुतः मध्यकालीन संत-परम्परा का सामाजिक परिवेश एक ऐसा परिवर्तनकारी काल था, जिसने सांस्कृतिक क्षेत्र में मतभिन्नता के बावजूद समन्वय की भावना का विकास किया। नाना उपासना-पद्धतियों एवं विविध धर्मानुयायियों के मध्य ब्रह्म के यथार्थ रूप की सहज ढंग से प्रस्तुति संतों के वैचारिक चिन्तन का महत्त्वपूर्ण पक्ष था। इस चिन्तन-धारा को इस युग के निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के संतों ने अपने-अपने ढंग से आम जनता से जोड़ने का श्लाघनीय प्रयास किया। कोई संत कहता है-'हे भगवान् ! मुझे तुम्हारी मुक्ति, ऋद्धि-सिद्धि नहीं चाहिए, मैं तुम्ही को चाहता हूँ।[12]

---

11 वदन्ति तत्त्वविदस्तत्वं यज्जानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।
(श्रीमद्भागवत 3-2-11) (द्विवेदी ग्रन्थावली भाग-5 से उद्धृत, पृ0- 368)

12. दरसन दे, दरसन देहौं तो तेरी मुकति व मॉगो रे।
सिधि ना मॉगो रिधि ना मॉगो तुम्हहीं मॉगो गोविन्दा।। दादूदयाल।

न मुझे धर्म चाहिए, न अर्थ चाहिए, न काम और न निर्वाण चाहिए। मैं यही वरदान माँगता हूँ कि जन्म-जन्म रघुपति की भक्ति मिले।[13]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल की संत-परम्परा में जो भक्त दास्य-भाव से भजन करता है, वह भगवान् की अनन्तकाल तक पदसेवा करना चाहता है, जो मधुर भाव से भजन करता है, वह भगवान् की चिन्मय सत्ता में विलीन हो ज़ाने की इच्छा नहीं रखता, बल्कि अनन्त-काल तक इसमें रमते रहने की लालसा रखता है। दादू भगवान् के साथ नित्य लीला में रत हैं, यहॉ बारहों मास बसन्त है।[14] कबीर कहते हैं वह दिन कब आयेगा, जब तन, मन और प्राणों में प्रवेश करके तुम्हारे साथ सदा हिल-मिलकर खेलूँगी :

वै दिन कब आवैगे भाई।
जा कारनि हम देह धरी है-मिलिबो अंग लगाई। (कबीर ग्रन्थावली)

तात्त्विक दृष्टि से कबीर, दादूदयाल आदि निर्गुण मतवादियों की नित्यलीला और सूर, नन्ददास आदि सगुण मतवादियों की नित्य लीला एक ही जाति की है। अन्तर यही है कि प्रथम श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान् के व्यक्तिगत सम्बन्धात्मक रूप के साथ उसकी रूपातीत अनन्तता वर्तमान रहती है। जबकि दूसरी श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान् सदा प्रतीक रूप में आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्तता और असीमता ओझल सी हुई रहती है।[15]

मध्यकाल के संत-मत के वैचारिक तत्त्वनिदर्शन की एक बड़ी विशेषता यह है कि भक्त और भगवान् को समान बताया गया है। प्रेम का आधार ही समानता है। गुरु भगवान् रूप है।[16] सहजिया मत के जो बौद्ध दोहे और गान मिलते हैं उनमें गुरुभक्ति

---

13. अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौ निरबान।
जनम-जनम रघुपति-भगति, यह वरदान न आन।। तुलसीदास।

14. रंगभरि खेलौ पीव सो बारह मास बसन्त।
सेवग सदा अनन्द है जुगि-जुगि देखौ कंत।। दादू।

15 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली - 3, पृ०-106

16 भगति भगत भगवन्त गुरु नाम रुपवपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नासै विघन अनेक।। भक्तमाल।

के अनेक उपदेश हैं। एक दोहे में कहा गया है कि गुरु सिद्ध से भी बड़े हैं। गुरु की बात का पालन बिन विचारे ही करना चाहिए।[17] कबीर ने गुरु को गोविन्द समान कहा है।[18] सगुणमार्गी संत सूरदास कहते हैं 'प्रीति के वश्य में है मुरारी।'' सूरदास प्रेम् को ही पुरुषार्थ मानते हैं, उनका मत है कि 'प्रेम, प्रेम से ही होता है, प्रेम से ही भवसागर पार किया जा सकता है, एक प्रेम का निश्चय ही रसीली जीवन्मुक्ति है, प्रेम का निश्चय ही सत्य है जिससे गोपाल मिलते हैं।'[19] दादू कहते हैं– प्रेम ही भगवान् की जाति है, प्रेम ही देह है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता और प्रेम ही भगवान् का रंग है। विरह-मार्ग को खोजकर प्रेम का रास्ता पकड़ो।[20] तुलसी, नानक, दादू, दरिया साहब आदि दोनों ही प्रकार के सगुण-निर्गुण संतों ने नाम-महिमा का वर्णन किया है। यद्यपि नाम-महिमा भागवत् आदि प्रायः सभी पुराणों में पाया जाता है, परन्तु मध्यकाल के संतों में इसका चरम विकास हुआ। तुलसी कहते हैं 'ब्रह्म और राम अर्थात् निर्विशेष चिन्मय सत्ता और अखंडानंद प्रेमस्वरुप भगवान्, इन दोनों में नाम बड़ा हैः

ब्रह्म राम में नाम बड़, वरदायक वरदानि।
रामचरित सतकोटि महुँ-लिय महेस जिय जानि।।

मध्ययुगीन संत-साधना और उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि तत्कालीन समाज को धर्म के द्वारा, प्रेम के द्वारा जोड़ने की थी। छन्द, दल, प्रपंच, साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर दोनों ही (निर्गुण-सगुण) संतों ने दीनता और आत्मसमर्पण पर जोर दिया और बताया कि भगवान् की कृपा से ही जीवन के यथार्थ आनन्द और मुक्ति की प्राप्ति होती है :

नाम बिना भव करम न छूटै।
साधुसंग और राम भजन बिन काल निरन्तर लूटै।।

---

17 म0म0 हरप्रसाद शास्त्री-'बौद्धगान ओ दोहा' भूमिका, पृ०- 3

18 गुरु गोविन्द तौ एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरे, तो पावै करतार।। (कबीर ग्रथावली)।

19 एकै निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल।
संचों निश्चय प्रेम को जातै मिलै गोपाल।। सूरदास (द्विवेदी ग्रन्थावली-3 से उद्धृत, पृ०- 108)

20 इश्क अलह की जाति है इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह मौजूद है इश्क अलह का रग।। दादू।

(दरिया साहब, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-3 से उद्धृत,
पृष्ठ- 108)

वस्तुतः मध्यकाल का संत-साहित्य धार्मिक साहित्य है, परन्तु उसका धार्मिक रूप साधारण जनता के लिए लिखा गया था। दीर्घकाल से प्रचलित धार्मिक विश्वासों, सामाजिक परिस्थितियों, वैयक्तिक आचरणों के मान तथा विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर या तो आक्रमण किया गया या उन पर सन्देह किया गया। यह स्थिति तत्कालीन संतों के उस तीव्र असन्तोष का फल था, जो उन्हें सामाजिक परिस्थितियों के कारण अनुभूत हो रहा था। हम आज जिसे संत-साहित्य कहते हैं, वह वस्तुतः निर्गुण भक्ति-मार्ग का साहित्य है। विद्वानों का मानना है कि उत्तर-भारत में भक्ति-मार्ग को रामानंद ले आये थे, जहां कबीर जैसा उन्हें शिष्य मिल गया। कबीर मतानुयायियों का यह दोहा प्रसिद्ध है :

भक्ती द्रविड़, ऊपजी लाये रामानंद।
परगट किया कबीर ने सात दीप नवखंड।।

द्रविड़ देश में उत्पन्न भक्ति ने उत्तर-भारत में आकर दो रूप ग्रहण किया। जो भक्त ऊँची जातियों से आये थे, उनमें उस भक्ति ने समाज में प्रचलित शास्त्रीय आचार-विचार, व्रत-उपवास, ऊँच-नीच की मर्यादा को स्वीकार कर लिया। वहीं दूसरी ओर निचली श्रेणी से आये भक्तों में सामाजिक अवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का भाव व्यक्त होता है। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होता है, भारतवर्ष में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी, और दूसरे में सामाजिक, व्यवस्था के प्रति तीव्र असन्तोष का भाव था।[21]

जिन दिनों निर्गुण-भक्ति-साहित्य का बीजारोपण हुआ, उन दिनों अनेक उथल-पुथल के बावजूद, भारतीय जनता का स्तर-भेद प्रायः स्थिर और दृढ़ हो चुका था।

---

21. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-5, पृ०- 265

मोटे तौर पर हम सन् ईसवी की 14वीं सदी से इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। यद्यपि मुसलमानों का आक्रमण और प्रभाव देश के एक भूभाग में 7वीं, 8वीं सदी में ही प्रारम्भ हो चुका था, तथापि प्रभावशाली मुस्लिम-आक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद शुरू हुए। ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म, शाक्त एवं शैव-धर्म, पाशुपत-धर्म, नाथ, निरंजन एवं अन्यान्य मतों का द्वन्द्व इस्लाम के आने के बाद एक कष्टकारी सांस्कृतिक संकट का शिकार हो गया। फलतः देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। स्वयं को या तो हिन्दू कहना पड़ता था या मुसलमान। किनारे पर पड़े हुए अन्य सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। पूर्वी बंगाल के वेदबाह्य सम्प्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्ता समझा था। ये समूहरूप में मुसलमान हो गयीं। पंजाब में भी नाथो, निरंजनों और पाशुपतों की अनेक शाखायें मुसलमान हो गयी। गोरखनाथ के समय ऐसे अनेक शैव, बौद्ध और शाक्त-सम्प्रदाय थे, जो न तो हिन्दू थे, न मुसलमान। जो शैव और शाक्तमार्गी वेदानुयायी थे, वे वृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दू-समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। मुसलमानों के आने के कारण हिन्दू-समाज में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति भी बड़ी प्रतिक्रिया के रूप में हुई। उनकी जातिप्रथा अधिकाधिक कसी जाने लगी। छूत का भय और वर्णसंकर की आशंका ने समूचे समाज को ग्रस लिया।

प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी स्थिति विशेष का सामना करना पड़ा जो उसके लिए नयी थी। अभी तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे, और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी न किसी रूप में चलती जा रही थी। अब सामने एक सुगठित समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति एवं जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। वह राजा से रंक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबको धर्मोपासना

का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था।

ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो 'बिजली की चमक के समान' इस विशाल देश में चतुर्दिक फैल गयी । इसने दो रूपों में अपने को प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएँ थी जिन्हें निर्गुण और सगुण धारा का नाम दिया गया। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों को केन्द्र बनाकर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण-उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथ-पंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को।[22] प्रथम साधना में हिन्दू-जाति के बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का मार्ग अपनाया, दूसरे ने विद्रोह का, एक ने शास्त्र का आलम्बन लिया, दूसरे ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथप्रदर्शक माना तो दूसरे ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया तो दूसरे ने निर्गुण भगवान् को। परन्तु प्रेम दोनों का ही मार्ग था; शुष्क ज्ञान दोनों का अप्रिय था, केवल बाहरी आचरण दोनों को सम्मत नहीं था। आन्तरिक प्रेम निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों को काम्य थी; आत्मसमर्पण दोनों के साधन थे; भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों साधनाओं में प्रधान भेद यह था कि सगुण-भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते थे, जबकि निर्गुण-भाव से भजन करने वाले भक्त अपने-आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

## (ख) भक्तिकाल की पृष्ठभूमि : धार्मिक पाखण्ड :

सभ्यता के उषः काल से ही मानव दृश्यमान प्राकृतिक शक्तियों तथा अदृश्यमान शक्तियों का उपासक रहा है। ईसा की छठी शताब्दी तक वैदिक यज्ञ-यागादि, मूर्ति, पूजा, जैन तथा बौद्ध-उपासना पद्धतियाँ साथ-साथ चल रही थीं। सातवीं सदी से देश की

धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। इस समय आलम्बार और नायम्बार संत दक्षिण-भारत से उत्तर-भारत की ओर एक धार्मिक आन्दोलन लाये। 642 ई0 में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने दक्षिण-भारत की यात्रा की तो वहाँ बौद्ध-धर्म के पतन की झलक पाकर वह बहुत दुःखी हुआ। बौद्ध-धर्म के सम्प्रदायगत पाखण्ड का प्रभाव उत्तर-भारत पर भी पड़ रहा था। वैष्णव-मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था। फलतः जैन और शैव-मत परस्पर आगे बढ़ने की होड़ में आपस में द्वन्द्वरत हो गये। 12वीं शती तक वैष्णव-आन्दोलन तीव्र होने लगा तथा शैव-मत भी एक नये तेवर के साथ आगे बढ़ा। फलतः जैन-मत का प्रभाव क्षीण होने लगा। तत्कालीन राजपूत राजा अहिंसामूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे। उन पर शैव-मत का प्रभाव अधिक था। मध्य देश के गाहणवार राजा स्मार्त थे तथा मालवा के राजा वैदिक-धर्म के समर्थक थे। गंगा और नर्मदा के अन्तराल में कलचुरिवंश शैवमत के प्रचार में लगा था। इस वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव-साधना का केन्द्र बनी हुई थी। शनैः-शनैः स्मार्त-मतानुयायी जनता भी शैव होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर-भारत में धीरे-धीरे शैव-मत बौद्ध एवं स्मार्त-प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक नया रूप लेने लगा था। नाथ-मत का उद्भव इसी रूप से हुआ।[23] डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'हिमालय के पाद देश में प्रचलित नाथ-पूजा बौद्ध-धर्म को प्रभावित करके बज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी'।[24]

डॉ0 ईश्वरी प्रसाद के मत में 'इस समय राजपूतों के शौर्य के उदय के कारण ब्राह्मण-धर्म की विजय-पताका सर्वत्र फहरा रही थी।'[25] किन्तु बौद्ध-धर्म भी रूप परिवर्तन कर अपनी जड़े गहरी करने हेतु प्रयत्नशील था। उसकी महायान-शाखा के मंत्र-तंत्र, जादू-टोने, ध्यान-धारणा आदि के अनेक प्रभाव निम्न-स्तर के लोगों में व्याप्त थे। जनता हिन्दू-साधुओं का जितना सम्मान करती थी, उतना ही सम्मान

---

22 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-5, पृ0- 268

23 हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ0 नगेन्द्र), पृ०- 71

24 हिन्दी साहित्य का आदिकाल (हजारी प्रसाद द्विवेदी), पृ०- 40

25 हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इण्डिया (1945), पृ०- 30

बौद्ध-सन्यासियों का भी था। इनके प्रभाव से लोगों में आत्मविश्वास की कमी होती जा रही थी। शैव-साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव इस दिशा में सहायक सिद्ध हुआ। वे जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखाकर निरुत्साहित करने लगे थे। धार्मिक स्थान दुर्दशा को प्राप्त हो गये। व्यभिचार, आडम्बर, अर्थ-लोभ आदि जिन दोषों ने बौद्ध-बिहारों के प्रति जनता को उद्वेलित किया, वही दोष हिन्दू-आस्था-केन्द्रों में भी आ गये। धर्म के मार्ग से विमुख महंथ एवं पुजारी अर्थ-लोभ से ग्रसित हो गये। महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ के प्रसिद्ध शिव-मंदिर पर आक्रमण से जहाँ एक ओर शैव एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है वहीं दूसरी तरफ मंदिरों में बढ़े हुए विलास एवं धन संग्रह का भी परदा खुलता है।

धर्म यथार्थतः जीवन में आचरित करने की वस्तु है। धर्म के प्रति जनास्था का प्रमुख कारण धर्म के माध्यम से इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार से था।[26] परन्तु धर्म के दुरुपयोग ने देशव्यापी धार्मिक अशान्ति को जन्म दिया। सम्प्रदायों एवं उपासना-पद्धतियों के उपदेशकों ने रूढ़ियों का सहारा लेकर धर्म का उपयोग जब स्वहित में करना शुरू किया तो धीरे-धीरे उसकी प्रतिक्रिया भी एक आकार लेने लगी। मध्यकाल के निर्गुनिया और सगुण संतों का प्रभाव इसी धार्मिक अशान्ति का परिणाम था।

देशव्यापी धार्मिक अशान्ति के इस काल में इस्लाम का भारत में प्रवेश भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। अशिक्षित जनता के समक्ष अनेक धार्मिक राहें बनती जा रहीं थीं, लेकिन धार्मिक मार्ग दिखाने वाले लोग ईमानदार नहीं थे। बौद्ध-सन्यासी यौगिक चमत्कारों का प्रभाव दिखा रहे थे। वैदिक एवं पौराणिक-मतों के समर्थक खण्डन-मंडन में ही अपना समय नष्ट कर रहे थे। जैन-धर्म पौराणिक आख्यानों को एक नये ढंग से परिभाषित कर जनता की आस्थाओं पर नया प्रभाव बना रहा था। वैष्णवों की धार्मिक कथाएँ जैन-कथाएँ बनती जा रही थी। इस प्रकार नास्तिकता, आस्तिकता का आवरण

---

26 महाभारत-आदिपर्व- 2-11

ओढकर जनता में भ्रान्ति का संचार कर रही थी। वैष्णवों के राम और कृष्ण जिन्होंने पौरुष में विश्वास करके युद्ध को भी धर्म का अंग सिद्ध किया था, जैन-धर्म की दीक्षा लेते वर्णित होने लगे। उधर बौद्धों का वामाचार जैन-आश्रमों में प्रविष्ट हो चला था। कुल मिलाकर विविध-धर्मों के मूल रूप नष्ट हो चले थे। यह कहना कठिन हो गया था कि किसी धर्म की निश्चित साधना-पद्धति का स्वरूप क्या है। इस संक्रमण-काल में भी दक्षिण-भारत में एक दार्शनिक लहर का प्राकट्य हुआ जिसके प्रवर्तक शंकराचार्य थे। उनके अद्वैतवाद का प्रचार उत्तर-भारत को एक नयी प्राणवायु दे रहा था। यह वायु बढ़ती ही गयी। रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और भक्ति-प्रधान आध्यात्मिकता का प्रचार किया, किन्तु जन-जीवन पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व उसका प्रभाव अधिक गहरा रंग नहीं ला सका।

भारतीय भक्ति-परम्परा एवं धार्मिक मत-मतान्तर का द्वन्द्व धार्मिक त्रासदी से उपजी उस हताशा का परिणाम था, जिसने तत्कालीन जनमानस को अन्दर से उद्वेलित किया। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 14वीं शती तक हिन्दी-भाषी प्रदेशों में देशी भाषा के साहित्य का स्वरूप कैसा था, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हम केवल इतना जानते हैं कि पूर्वी-प्रदेशों में सहजयानी और नाथपंथी साधकों की साधनात्मक रचनाएँ प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, श्रृंगार और कथानक साहित्य की कुछ रचनायें उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है, तो दूसरी में नियमनिष्ठा, रुढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है। एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, तो दूसरे में ऐहलौकिक वायुमण्डल में। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनायें एक में सिमटने लगीं। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय में मिलने लगी, जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है।[27] डॉ0 ग्रियर्सन के शब्दों में 'कोई भी मनुष्य जिसे पन्द्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों के साहित्य को पढ़ने का अवसर मिला है, उस भारी व्यवधान को लक्ष्य

किये बिना नहीं रह सकता, जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं, जो उन सभी आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिसे भारतवर्ष ने कभी नहीं देखा। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं, अपितु भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पण्डितों की जाति की नहीं, बल्कि उनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेयरवक्स, टामस-ए-केम्पिस और सेन्ट थेरिसा से है।

## धार्मिक पाखण्ड :

सृष्टि के विकासक्रम से ही मनुष्य की आस्था और विश्वास का विकास प्रकृति से हुआ और यही तत्त्व कालान्तर में देवता के रूप में पूजे गये। मानवता के विकास से ही धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। धार्मिक धारणायें जनजीवन में समादृत होती रहीं हैं, प्राचीन एवं अर्वाचीन मनीषियों ने धर्म को समय-समय पर व्याख्यायित किया है। धर्म ने मानव-जीवन को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि एक समय ऐसा भी था जब सब-कुछ धर्म से ही नियंत्रित होता था। इस लोक और परलोक में सुखी जीवन बिताने की लालसा ने लोगों को धर्म के प्रति निष्ठावान बनाया। लोगों को यह विश्वास हो गया था कि धर्म उन्हें अनेक अनिष्टों से बचाता है। यह मान्यता प्रबल थी कि अदृश्य-शक्तियां मनुष्य और मानवता को नियंत्रित करती हैं जब कभी अनिष्ट होने की सम्भावना होती है, तब धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है। धर्म ने जीवन को शिव अर्थात् सदाचार-पूर्ण, प्रेममय, सहनशील और न्याय, सुन्दर अर्थात् मनुष्य को अपने केन्द्र तथा आदर्श से च्युत-स्थिति से ऊपर उठाकर सत्य या पूर्ण बनाने की चेष्टा की है।[28]

प्राचीन भारतीय समाज धर्म से ही नियंत्रित था, समस्त प्रजा एक सूत्र में निबद्ध थी। भारत-वर्ष में सनातन धर्म की प्रतिष्ठा थी और जनता दोनों का आदर करती

---

27. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली भाग-3, पृ०- 306
28 श्रीकृष्ण व्यकटेश पुणताम्बेकर- भारतीय लोकनीति और सभ्यता, पहला खण्ड, पृ०-51

थी। सन् इसवीं की छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास एक ऐसी प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसने वेद को श्रेष्ठ कहा और अन्य मतों को नीचा दिखाने के लिए वेद-बाह्य कहकर नकारने की पहल की। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गयी। सातवीं और आठवीं शताब्दी के आस-पास तांत्रिकों में वेदविहित आचार को हेय घोषित करने की प्रवृत्ति तीव्र हुई। दशवीं शताब्दी के आस-पास ब्राह्मण-मत क्रमशः प्रबल होता गया।

बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण ब्राह्ण-धर्म में और भी अधिक जटिलतायें आ गयी। यह माना जाने लगा था "जो शास्त्र-विधि को छोड़कर स्वतंत्र रूप से काम करता है उसे न तो सिद्धि मिलती है और न सुख, न उत्तम गति ही।" ब्राह्मणों पर आक्रमण करते हुए बौद्ध कहते थे कि ब्राह्मण झूठमूठ का वेद पढ़ता है, पर परमार्थ के रहस्य को नहीं जानता।

ब्राह्मणो हि न जानतं भेय एवड़ पढ़िअउएच्यउठेव (सरहपा)।

हिन्दुओं का एक विशाल समुदाय तीर्थ-स्नान, दान, पुण्य, व्रत, उपवास, स्वर्ग, नरक में आस्था रखता था। बौद्ध-धर्म के बहिष्कार और अनुशासनों के कारण जात-पांत और छुआ-छूत के बंधन और कठोर हो गये, धर्म में अनेक रूढ़ियाँ प्रधान बन बैठीं। भारत में प्रायः सातवीं-शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बारहवीं-शताब्दी के अन्त तक राजपूतों का राज्य रहा। सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक अंग पर राजपूती छाप दिखायी देती है। पुरातन समय में धर्म ही हमारी सभ्यता का मूलाधार रहा है।

मौर्यकाल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक साम्राज्यवाद का बोलबाला रहा है। मौर्यकाल में बौद्ध-धर्म को प्रश्रय मिला तो गुप्त-वंश ने ब्राह्मण-धर्म को प्रोत्साहित किया। आलोच्य काल में विभिन्न मत-मतान्तरों का बोलबाला था। एक अरब-यात्री का कथन है कि भारत में बयालीस मत विकसित हो गये थे।

बौद्ध-धर्म महात्मा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् हीनयान और महायान में विभक्त हो गया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म का चिन्तन पक्ष हीनयान में रहा और व्यावहारिक-पक्ष

महायान में। धर्म ज्यों-ज्यों योग और मंत्र में सिमटता गया त्यों-त्यों रूढ़ि और अंधविश्वासों में ग्रसित होता गया।

बौद्ध-मत की तरह जैन-मत को किसी चक्रवर्ती सम्राट् का राजाश्रय नहीं मिला परन्तु फिर भी उसका प्रचार-प्रसार देश के विभिन्न प्रान्तों में था। जैन-मत में दिगम्बर और श्वेताम्बर, दो शाखायें हो गयी, तप और त्याग के साथ मूर्तिपूजा का प्रवेश जैन-धर्म में हो गया।

सातवीं से तेरहवीं-शताब्दी तक का काल उथल-पुथल का काल रहा। तुर्कों के भारत में प्रवेश के साथ इस्लाम-धर्म का आगमन हुआ। धार्मिक आवेश के कारण तुर्कों (तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में) मन्दिरों, मूर्तियों को नष्टकर अपने धर्म का प्रचार किया।

धर्मों, जातियों तथा विभिन्न सम्प्रदायों ने अपने मत का प्रचार एक उन्माद की सीमा तक किया।

धर्म शब्द धृ धातु से बना है, धर्म ही वह तत्त्व था जो समाज को नियंत्रित करता था। धर्म के अन्तर्गत उन सभी तत्त्वों का समावेश था जो नैतिक मान्यताओं और विचारों से पूर्ण हैं। धर्म के दो पक्ष यम और नियम हैं, जिनमें यम अपरिवर्तनीय है, लेकिन नियम में परिवर्तन होता रहता है। आलोच्य काल में यम अर्थात् सत्य, अहिंसा दया, संयम, प्रेम, परोपकार, ब्रह्मचर्य का पालन तो था ही किन्तु सन्ध्या, स्नान, ध्यान, जनेऊ धारण करना, चोटी रखना ही धर्म बन गया था। कर्मकाण्ड का बोल बाला था। ब्राह्मण-धर्म में कर्म की जटिलता का समावेश हो गया था। कबीर ने इसीलिए कहा "मन मूड़ा नहि केश मुड़ाया। मुड़ मुड़ाया फ्ल का बैठे, काननपहरि भजसा।"[29]

कर्मकाण्ड धार्मिक भावना और साधना का बाह्य रूप है। कर्मकाण्ड किसी धार्मिक अंध-विश्वास पर आधारित नहीं होता है वह किसी धर्म की बाह्यमूलक प्रतीकात्मक योजना है। जब-जब भावमूलक प्रेरणायें कम होती हैं, साधारण लोक

---

29 कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 356, पद- 105

अन्ध-विश्वास को महत्व देता है। अन्धविश्वास के परिणाम-स्वरूप टोना-टोटका, भूतप्रेत, पीर-पैगम्बर, पूजा-निवाज, तीर्थ-व्रत और पाखण्ड को बढ़ावा मिलता है। ब्राह्मण, मुल्ला, शास्त्री, पंडितों का वर्चस्व बढ़ता है। कबीर और परवर्ती-संतों ने इसी कर्मकाण्ड का विरोध किया। कबीर ने पंडितों पर व्यंग्य करते हुए कहा 'पण्डित वेद पढ़कर आत्म-ज्ञान को भूल गये। गायत्री का जाप चार युगों तक किया, किन्तु मुक्ति नहीं मिली। रोजा और नवाज के बाह्याडम्बर पर भी संतों ने कटाक्ष किया उन्होंने कहा "कंकड़ और पत्थर की मस्जिद में खड़े होकर अजान देना कहाँ तक उचित है, क्या खुदा बहरा हो गया। इसी प्रकार पण्डितों के त्रिपुण्ड-धारण पर भी संत कबीर ने करारा प्रहार किया,- 'जप माला छापा तिलक.....'।

सभी संत-कवियों का उद्देश्य समाज में फैले पाखण्ड को मिटाने का प्रयास करना था। धर्म के दिखावटी व्यवहार का विरोध किया। उनका मानना था कि इन आडम्बरों के कारण धर्म का वास्तविक रूप आँख से ओझल हो जाता है विभिन्न मतवादों में पढ़ने से कोई लाभ नहीं होता।

सभी संतों ने श्रुति, स्मृति, पुराण, और वेद के पचड़े में फसने से मना किया, मूर्तिपूजा को व्यर्थ बताया:

पाहन कू क्या पूजिये, जे जनम न देई जाब।
आँधा नूर आसा मुखी, यौंही खोवै आब।।

आलोच्य काल में धार्मिक पाखण्ड चरम पर था संतों ने धर्म के वास्तविक रूप को पहचानने, सत्गुरु को पहचानने और उसे पाने पर बल दिया। क्योंकि वही सच्चा पथ-प्रदर्शक है।

## (ग) जाति एवं वर्गवाद की व्यापकता :

धार्मिक रूढ़िवादिता, पाखण्ड और सम्प्रदायगत-असमानता ने आस्थावान जनमानस को जो सम्प्रदाय में बँटे थे, एक नवीन धार्मिक उमंग से भर दिया।[30] क्योंकि

---

30 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली भाग-3, पृ०- 306

धर्म का अंतिम लक्ष्य परमसत्ता की अनुभूति एवं आनंद है। मध्यकालीन संतों के धार्मिक आन्दोलन ने रूढ़ियों, मतों एवं जाति-पांति से अलग हटकर, जिस भक्ति-धारा का दर्शन आम जनमानस को कराया, उसने लोगों की दिशा-दशा ही बदल दी। दक्षिण में वैष्णव-भक्ति ने तेजी से अपना पांव फैलाया। इस भक्ति-आन्दोलन के पुरस्कर्ता आलवार भक्त कहे जाते हैं। इनकी संख्या बारह है जिनमें नौ को ऐतिहासिक मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। इनमें 'आण्डाल' नाम की एक महिला भी थी। इनमें से अनेक संत ऐसी जातियों में पैदा हुए थे, जिन्हें अस्पृश्य समझा जाता है। इन्हीं संतों की परम्परा में सुप्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य का उद्‌भव हुआ था।[31]

मध्यकालीन भक्ति-धारा ने तत्कालीन समाज में व्याप्त जाति-पांति, छुआ-छूत की भावना पर करारा प्रहार किया। दक्षिण में व्याप्त जटिलतर जाति-विचारों को रामानुजाचार्य जैसे आचार्य ने तथाकथित नीच जातियों में प्रचलित ऐकान्तिक भक्ति-धर्म को बहुमान दिया और देशी भाषा में लिखित शठकोप, तिरुवल्लुवर प्रभृति के शास्त्रों को वैष्णवों के वेद का सम्मान देकर समादर किया। धर्म की दृष्टि से सभी समान माने गये, पर सामाजिक व्यवहार में जातिभेद की मर्यादाएँ बनी रहीं। एक मध्यमार्ग यह निकाला गया कि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग भोजन करे, इसी को दक्षिण में तेनकलै या दक्षिणवाद कहते हैं। वस्तुतः आलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने एक क्रमबद्ध और सुनिश्चित रूप दिया।

मध्ययुग के धार्मिक पाखण्ड और वर्गवाद को समझने के लिए इस तथ्य पर भी विचार आवश्यक है कि, उस समय घटित होने वाली वे घटनाएँ कौन सी थी, जिसने भारतीय जनमानस की आस्था को धार्मिक पाखण्ड के खिलाफ उठकर सगुण-निर्गुण, संतों की वाणियों के अनुसरण हेतु प्रेरित किया।

यदि निर्गुणियां संतों की वाणियों का सामाजिक अध्ययन के लिए विश्लेषण किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इन वाणियों को रूप देने में मध्यकालीन

---

31. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृ0- 307

सामाजिक स्तरभेद की कठोरता का बड़ा हाथा था। प्रायः सभी संत समाज के उस स्तर से आये थे जो आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त निचले भाग में था। व्यक्तिगत रूचि और संस्कार के कारण इस कठोर स्तर भेद की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में हुई है, पर सबमें इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है, केवल मात्रा का ही भेद है।

मध्यकाल में जातियों और उपजातियों की सीमाएँ जो बढ़ती गयी और कठोर से कठोरतर होती गयी, उसके अनेक कारण हैं। इस महादेश के विशाल जनसमूह में आर्यों के बाद भी अनेकानेक जातियाँ उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर इस देश में बस गयीं। इनमें से अधिकांश ने वैदिक आर्यों के धर्म और समाज-विधान को आँशिक रूप में स्वीकार कर लिया। भारतीय जनसमूह का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने जातियों को सात भागों में विभक्त किया है। (1) तुर्क-ईरान-टाइप, जिसमें सीमान्त और ब्लूचिस्तान के बलूच, ब्राहुई और अफगान शामिल हैं, जो सम्भवतः फारसी और तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है। (2) हिन्द-आर्य-टाइप; जिसमें पंजाब, राजस्थान और कश्मीर के क्षत्री, राजपूत और जाट शामिल हैं। (3) शक-द्रविड़-टाइप; जिसमें पश्चिम-भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी, कुर्गी आदि शामिल हैं। (4) आर्य-द्रविड़-टाइप; जिसमें उत्तर प्रदेश, कुछ राजस्थान, बिहार आदि प्रदेशों के लोग हैं। इनका उच्चतम स्तर हिन्दुस्तानी ब्राह्मणों और निम्नतर स्तर चमारों से बना है। (5) मंगोल-द्रविड़-टाइप; जिसमें बंगाल उड़ीसा के ब्राह्मण और कायस्थ तथा पूर्वी बंगाल और असम के मुसलमान हैं। (6) मंगोल टाइप; जिसमें नेपाल, असम और वर्मा की जातियाँ हैं। (7) द्रविड़ टाइप; जिसमें गंगाघाटी से लेकर सिंहल तक मद्रास, हैदराबाद, मध्यप्रदेश आदि की जातियां शामिल हैं।[32]

मूल संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों का उल्लेख मिलता है। इसके अलावा अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसंग क्रम से चाण्डाल, पौल्कस, निषाद, दास, शबर, भिषज, रथकार और वृषल शब्दों

---

32 रिजली, पीपुल ऑफ इण्डिया- पृ०- 31-33

का प्रयोग इस ढंग से किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि ये चार वर्णों से बाहर हैं।[33]

वस्तुतः यदि जाति-प्रथा का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होता है कि जाति-प्रथा के चार मोटे स्तर हैं- पहली वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, दूसरी वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँचे जाति के आदमी का शरीर तो नहीं, पर पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, परन्तु कच्ची रसोई दोषयुक्त हो जाती है। विशेष द्रष्टव्य तो यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति, जो बंगाल में तीसरे स्तर में है, मद्रास में दूसरे और राजस्थान में चौथे में। यद्यपि हिन्दू शास्त्रों की प्रवृत्ति तज्जातियों के समूह को हमेशा के लिए स्थिर कर देना रही है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रहती है।[34]

सम्पूर्ण संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों एवं उपनिषदों में इस प्रकार की छुआ-छूत का उल्लेख नहीं मिलता। धर्मसूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आश्रय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है। इनमें आश्रय-दुष्टता में छुआ-छूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम-धर्मसूत्र में संसर्ग-दुष्ट और काल-दुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आश्रयों का वर्णन है, जिनके यहां अन्न अभोज्य हो जाता है।[35]

मध्यकाल में जाति प्रथा और सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप अन्तरजातीय रक्त सम्मिश्रण का अपवाद नहीं था। मनुस्मृति में भी लगभग छः दर्जन जातियों और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में शताधिक जातियों की उत्पत्ति वर्णों के अन्तरजातीय रक्त सम्मिश्रण से बतायी गयी है। कुछ आधुनिक नृतत्त्व–विज्ञानियों का भी मत है कि भारतवर्ष की

---

33 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली-भाग-5, पृ0- 275

34 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली भाग-3, पृ0- 307

35 गौतम धर्मसूत्र- 17/15-16

जातियों का मूल रक्त के सम्मिश्रण से ही हुआ है। प्रसिद्ध नृतत्वविद् रिजली का भी यही विचार है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्थिर किया कि जो जाति जितनी ही ऊँची समझी जाती थी, उसमें आर्य-रक्त का उतना ही अधिक आधिक्य होता था और जो जितनी छोटी समझी जाती थी, उसमें उतना ही कम।[36]

मध्ययुगीन भारत में जाति-पांति की व्यवस्था का जो रूप मिलता है वह तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति-विशेष का परिणाम था। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वही नहीं रही और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं, जो आज ऊँची जातियों के रूप में जानी जाती हैं। इस विराट जनसमूह का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं है, जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी समय था जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोकव्यापी भावना थी। मुस्लिम आगमन के पूर्व ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहने वालों को हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें से बहुत सी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान। इस काल की यह विशेष घटना है, जब प्रत्येक मानव-समूह का किसी न किसी बड़े दल में शरण लेने हेतु बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक, एक अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिजली साहब ने लिखा कि "इन्होंने कभी समूह रूप में इस्लाम-धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरूष इसी वंश के रत्न थे।[37]

---

36. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रथावली, भाग-5, पृ०- 277
37. पीपुल्स ऑफ इण्डिया, पृ०- 126

वस्तुतः प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में जाति एवं वर्गवाद का स्वरूप कालचक्र के परिवर्तन के अनुसार बदलता रहा। हम प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को ही लें तो देखते हैं कि श्रम एवं जीवन के विभिन्न सोपानों का विभाजन एक सम्पूर्ण और समरस जीवन के लिए स्वीकार किया गया और इनके बीच परस्पर अवलम्बन का भाव भी रखा गया। इसने समाज की गतिशील बनाने में सहायता दी। परन्तु जब इस व्यवस्था में एक जड़ता आने लगी, परस्पर अवलम्बी-भावना समाप्त होने लगी, तब इस वर्गवादी जड़ता को धर्म ने छेड़ा, दर्शन ने छेड़ा और तत्कालीन साहित्य ने छेड़ा।[38] वैष्णव आचार्यों और वैष्णव भक्त-कवियों ने अपने-अपने ढंग से सामाजिक स्तर-भेद की मान्यता पर प्रहार किया। किसी ने इसकी बिल्कुल उपेक्षा की, इसे अनदेखा किया। चैतन्य महाप्रभु ने एक ऐसा भाव जगाया, जिसमें केवल प्यार का भाव था। कुछ ने इसे स्वीकार तो किया एक सामाजिक वस्तुस्थिति के रूप में, परन्तु इसकी भूमिका छोटी कर दी, इसके सामने एक बड़ी लकीर खींच दी। हरि के भाव की हरि का होना, राम का होना अधिक बड़ा है, जाति-पॉति, धन-धर्म बड़ाई सबसे छोटी है। तुलसी ने ''जाति-पाँति धन धरम बड़ाई। सब तजि तुमहिं रहहिं, लौ लाई'' और ''सो सब धरम-करम जरि जाऊ। जेहिं न राम पद पंकज भाऊ।।'' – जैसी नयी स्थापनाओं के द्वारा एक बृहत्तर और अधिक विश्वसनीय मूल पर बल दिया। प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के ऊँच-नीच में स्थिर बड़ाई के स्थान को बिचलित करके नीचे ला दिया। तीसरे प्रकार से कबीर, दादू, नानक, नामदेव जैसे संतों ने व्यवस्था को छेड़ा। उन्होंने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना पर सीधे चोट किया। समाज के दबे-कुचले लोगों में यह विश्वास पैदा करने का प्रयास किया। ऐसे लोगों के लिए उनका उपदेश था कि ''यदि तुम अपने अन्दर विद्यमान एक साई को (परमात्मा को) मानते हो तो हीनता की भावना छोड़कर ऊपर उठो।''[39]

भारतीय-धर्म और जाति-वर्गवाद एवं उसके विविधात्मक स्तर के संदर्भ में विविध विद्वानों ने नाना भाव से इस अनन्य-साधारण भारतीय विशेषता का अध्ययन किया है।

---

38 साहित्य का प्रयोजन (डॉ0 विद्यानिवास मिश्र), पृ0- 93

39 हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-5, पृ0- 280

इन सभी विशेषताओं और विसंगतियों के मध्य एक तथ्य विचारणीय है कि नाना आचार-विश्वासों, मत-मतान्तरों एवं धार्मिक उपासना-पद्धतियों के बावजूद इस महादेश में व्याप्त जातिगत पाखण्ड, वर्गवाद पर साधक-संतों ने समय-समय पर अपनी प्रभावशाली लोकवाणी से एक क्रान्ति ला दी। लोगों को भी यह सोचने को विवश किया कि नाना मार्गों एवं उपासना-पद्धतियों का लक्ष्य उस एक ही सत्ता की प्राप्ति है, जिसे विविध नामों से विविध जातियाँ अपने मानसिक आनन्द तथा कर्तव्य पथ पर चलने हेतु आश्रय ग्रहण करती हैं।

मध्यकालीन समाज में जात-पांत और छुआ-छूत का प्रचलन अधिक था, समाज में रूढियों और परम्पराओं को मान्यता दी जाती थी। "आलोच्यकाल में वर्गभेद का विष भी समाज के अंग-अंग में व्याप्त हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रभाव कबीर की रचनाओं में मिलता है।[40] जाति और धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता थी। जातिवाद की जटिल समस्या ने समाज को विभिन्न वर्गों में गढ़ दिया था उसके परिणामस्वरूप समाज में संघर्ष और अनेक विकृतियाँ आ गयीं । ब्राह्मण अपने को सर्वश्रेष्ठ मानता था, मुसलमान अपने मजहब के कट्टर समर्थक और अपने को शक्तिशाली समझते थे। हिन्दुओं में अनेक जातियाँ उपजातियाँ थीं। वे एक दूसरे को ऊँचा-नीचा समझते थे और भेदभावपूर्ण व्यवहार करते थे। मुसलमानों में भी अनेक सम्प्रदाय थे और वे भी आपस में बँट गये थे।

कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान रूप में फटकारा। कबीर ने कहा कि ईश्वर ने वर्ण और जाति पर विचार किया होता तो जन्म से ही सबको विभाजित कर देता। कबीर का कथन था कि न तो कोई ऊँचा है न कोई नीचा, जिसका पिण्ड है उससे उसका पालन-पोषण हुआ है, जो तुम ब्राह्मणी के जाये हो तो अन्य मार्ग से तू क्यों नहीं आया, पैदा हुआ।[41]

---

40 सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा-हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड, संत काव्य, पृ०- 199

41 सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा– हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड-संतकाव्य, पृ०- 199

जे तू वामन बामनी जाया तो आन बाट है कहै न आया।
जे तू तुरक तुरकनी जाया तो भीतरि खतना क्यूँ न कराया।।[42]

कबीर दास कहते हैं कि न तो कोई तुर्क है, न ही कोई हिन्दू; सभी एक ही तत्त्व से बने हैं और सभी मनुष्य हैं। सभी के शरीर में एक ही प्रकार के रक्त का संचरण होता है। सभी मनुष्यों के शरीर में एक ही प्राण, जीवन होता है। सभी मनुष्य माँ के गर्भ में दस मास तक रहते हैं। सब एक माँ से पैदा हुए हैं।

हम तु महा है लोहु, एकै प्रान जीवन है मोहू।
एक ही वास रहे दस मासा, सूतन पालग एकै आसा।।
एक ही जननी जान्या संसारा, कौन ग्यान के भये नियारा।।[43]

कबीरदास जात-पांत के भेद को मिटाना चाहते थे, क्योंकि तत्कालीन समाज में जाति-भेद के कारण एक दूसरे को पराया समझते थे, उनकी सामाजिक एकता बिखर गयी। उच्च-श्रेणी के लोग निम्न-श्रेणी के लोगों को तिरस्कृत करते थे जबकि निम्न-श्रेणी के लोग उनका आदर करते थे।

कबीर एक गुरवा मिला, रलि गया आटे लूण।
जाति-पाँति कुल सब मिटै नाव करौगे कोण।।[44]

कबीर ने तत्कालीन समाज में मुल्ला और पण्डितों के दुष्कर्मों को देखा था। वे कहते हैं कि ब्राह्मण नव ग्रह और बारह राशियों की बात करते हैं, किन्तु मृत्यु पर विजय नहीं पा सके। शरीर नश्वर है फिर भी ऊँच-नीच और छुआ-छूत की बात करते हैं। कबीर कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को संसार में पैदा ही नहीं होना चाहिए जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करे, छुआ-छूत का भेद करे और झूठ के बाद-सम्प्रदाय की बात करे।

पण्डित वाद वदन्ते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै खाण्ड कह्या मुख मीठा।।[45]

---

42 कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 76, पद- 41

43 कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 85, रमैनी।

44 कबीर ग्रन्थावली, पृ०-2

संतों ने अपने काव्य में तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद को बखूबी रेखांकित किया है। संतों के लिये भोग-बिलास, सुख-सुबिधायें क्षणिक उपभोग की वस्तु होने के कारण त्याज्य थी। कबीर के अनुसार जैसे मधुमक्खी शहद इकट्ठा करती है, परन्तु यह नहीं जानती कि वह उसका नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य मरने के पश्चात् सब कुछ यहीं छोड़कर चला जाता है। मनुष्य की धन-सम्पत्ति, रूप-ऐश्वर्य, कुटुम्ब-सब-कुछ यहीं छूट जाता है। मरघट-श्मशान तक कुछ नहीं जाता।[46] मनुष्य खाली हाथ आता है और नंगे पैर चला जाता है।[47] लाखों-करोड़ों की जोड़ी हुई सम्पत्ति यहीं रह जाती है। यहाँ तक कि राजे-महराजे जिनकी विजय के समय नक्कारे, तुरही बजती है, सिर पर छत्र धारण करते, वे भी यतीमों की भाँति दफना दिये जाते हैं।

संतों ने समाज में व्याप्त वर्गभेद की व्यापकता का वर्णन विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से किया है। आर्थिक दृष्टि से मुख्यतया दो वर्ग थे, किन्तु इनके बीच कई स्तर आ गये थे। उच्च-वर्ग का रहन-सहन स्तरीय था। वे धवल वस्त्र पहने थे और टेढ़ी पगड़ी बांधते थे तथा सोने, चाँदी के आभूषण धारण करते थे। उनके दरवाजे पर हाथी, घोड़े बँधे रहते थे, सेवा करने वाले नौकर-चाकर रहते थे। उच्च वर्ग के लोग ऊँचे आवासों में रहते थे। कबीर दास इन 'टका' रखने वालों और 'साहिवी' करने वालों की साहिवी चार दिन की मानते थे।

दरिया साहब ने धन पर गर्व करने वाले लोगों का उल्लेख अपने पदों में किया है। वे तेल-फुलेल, इत्र लगाकर और गले में मोतियों की लड़ी धारण कर दूसरों की स्त्रियों पर दृष्टि डालते हैं। उच्च-वर्ग के लोगों का चित्र पलटूदास, हरिपुरुष जैसे संतों ने भी अपने पदों में खींचा है।

संतों ने राजाओं-महाराजाओं के भोग-बिलास को देखा था। संत राजाओं के भोग-विलास-ऐश्वर्य के साथ 'छत्र-सिहांसन', सुवासित वस्तुओं के प्रयोग से परिचित

---

45. कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 76, पद-40
46 कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 169, पद- 241
47. कबीर ग्रन्थावली, पृ०- 208, पद- 361

थे।[48] इसके अतिरिक्त तत्कालीन राजाओं, महाराजाओं, सामन्तों, मंत्रियों के यहाँ उनके अन्तःपुर में हजारों की संख्या में विभिन्न जातियों की सुन्दर स्त्रियाँ रहती थीं। फिरोज तुगलक के मंत्री खाने जहाॅ ने अन्तःपुर में विभिन्न जातियों की लगभग दो सहस्र स्त्रियाँ रख छोड़ी थीं और अकबर महान् के हरम में पांच हजार स्त्रियाँ थीं। उनके भोजन, आच्छादन व बिलास सामग्री का प्रबंध करने के लिए एक पृथक् विभाग था।

हिन्दू राजो-महाराजों ने मुसलमान शासकों का अनुकरण करने में अपनी शान समझा। अनेक राजपूत राजाओं के अन्तःपुर में हजारों स्त्रियाँ थी। मालवा के राजपूत मंत्री के अन्तःपुर में दो हजार स्त्रियाॅ थी। उनमें से कुछ मुसलमान भी थी। उच्च-वर्ग की विलासिता चरम पर थी। मांस और शराब भोजन का आवश्यक अंग था। बर्फ का प्रयोग बारहों महीने होता था, मदिरा, फल विदेशों से मंगाये जाते थे।

मध्यमवर्गीय समाज भी था। यह वर्ग सामन्त और सर्वहारा के बीच का था। इसमें राजकर्मचारी, शिल्पी, व्यापारी, अध्यापक और बैद्य थे। इन लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुखमय था जिसे संतों ने प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किया है। भोगपरक दृष्टि के कारण यह वर्ग भी पथभ्रष्ट था। थोथी मर्यादा, झूठी शान, परिनिन्दा इस वर्ग की दिनचर्या के अंग थे। व्यापारी अपना जीवन सुखमय बिताते थे, लेकिन राजभय से अपने धन को छिपाकर रखते थे।[49] निम्न-मध्यम-वर्ग की दशा तत्कालीन समाज में दीनहीन थी। ग्रामीण कृषक, कर्मकार, नौकर-चाकर, श्रमजीवी इस वर्ग में आते थे। मेहनत-मजदूरी कर अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकतायें पूरी करते थे। उनका जीवन उच्चवर्ग की सेवा में ही बीतता था। इस वर्ग का समाज में कोई सम्मानजनक स्थान न था। इसकी स्थिति सोचनीय थी। इसे कभी-कभी भूखे पेट सोना पड़ता था। इसीलिए इस वर्ग की नैतिकता भी सस्ती थी। सब प्रकार का भलाबुरा कर्म यह वर्ग पापी पेट के लिए करता था। संत कबीर, नानक आदि ने इस वर्ग की दीनता का वर्णन

---

48 सन्त कबीर, पृ०- 95

49 सत्यकेतु विद्यालंकार-भारतीय सस्कृति और इसका इतिहास, पृ०- 498

अपने पदों में किया है। नानक के अनुसार "एक नि दीना पटम्बर एकन सेल निवारा। एक नि दीना गर गूदरी एकनि सेज पटारा।।" संत कबीर ने 'घट जाजरौ वलीडौ टेढ़ो, औलादी अरराई', अर्थात् रहने के लिए उनके पास जो जर्जर घर थे उनकी बड़ेरी वृद्ध होने के कारण झुग गयी थी और औलती ऐसे चरमरा गयी कि पता नहीं कब गिर पड़े।

तत्कालीन समाज में धनवानों का महत्व बहुत था। जिसके पास जितना अधिक धन उसका उतना ही सम्मान। समाज विभिन्न वर्गों के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में भी बटा था। इनका निर्धारण जन्मना माना जाता था। कबीर ने इसका विरोध बार-बार किया है, कोई जन्म से ब्राह्मण, शूद्र कैसे हो सकता है, संतों का मत था कि "जाति-पांति पूछै ना कोई, हरि का भजै सो हरि का होई।"[50]

## (घ) सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य :

मुसलमानों की असहिष्णु और धर्म-प्रचारक नीति ने भारतीय समाज की नींव को हिला दिया था। समाज की निराशा और आशा राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। समाज का सम्बन्ध एक ओर धर्म से है तो दूसरी ओर राजनीति से। राजनीतिक परिस्थितियों के अव्यवस्थित होने से समाज के आचरण, व्यवहार में परिवर्तन आता है। समाज में अराजकता और उच्छ्रंखलता आजाती है। आक्रमणकारी अपार धनसम्पत्ति लूटकर भोग-विलास, आमोद-प्रमोद में लीन हो जाते थे। समाज में विलासिता और भ्रष्टाचार का वातावरण बढ़ जाता है, समाज की दिशा पतनोन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि कबीर ने अपनी साखियों में 'कनक' और 'कामिनी' के विरोध में अपनी वाणी को मुखर किया हैः

कबीर कंचन के कुडल बने, ऊपरि लाल जडाऊ।
दीसहिं दाधे कानजिउ जिनमनि नाही नाऊ।।
को है लरिका बेचई, लरिकी वेचौ कोई।

---

50 परशुराम चतुर्वेदी-कवीर ग्रन्थावली, पद-22

साझा करै कबीर सिऊ, हरि संगि बनजि करेई।।

उपर्युक्त दोहे में तत्कालीन समाज के एक चित्र का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, वैभव की आसक्ति पर व्यंग्य किया है। समाज की विलासिता की ओर प्रकारान्तर से सभी संत-कवियों ने अपनी वाणी मुखर की है। 'धन वैभव', 'भवन', 'देहीं', 'सुरंग' सभी नश्वर हैं, साथ नहीं जाने वाले; अतः इस चक्कर में न फँसने की सलाह दी। कंजूस का धन उसका नहीं है.

सूमहिं धन राखन कौ दीया मुगध कहै यहु मेरा।
जम का डंडु मूंड़ महिं लागै, खिन महिं करै निबेरा।।[51]

तत्कालीन समाज में जाति और वर्ग व्याप्त हो गया था, छुआ-छूत, जाति-पांति, बाह्य-आडम्बर के कारण समाज में संकीर्णता का वातावरण था।

आलोच्य काल में जाति और वर्ग-भेद चरम पर था, धर्म-कर्म के क्षेत्र में जातीय संकीर्णता का वातावरण था। धर्म के अंग में जातीय संकीर्णता को समाप्त करने के लिए महायान शाखा ने सभी जाति एवं धर्म के लोगों को सम्मिलित करना आरम्भ किया जिसके परिणाम स्वरूप वैदिक धर्म के अनुयायियों ने जातिबंधन-व्यवस्था को और भी दृढ़ किया, किन्तु सनातन धर्म लोकप्रिय नहीं हो सका। जाति-भेद की संकीर्णता का विरोध संत-कवियों ने अपनी रचनाओं में किया। संत कबीर की रचनाओं में विरोध का स्वर अधिक मुखर हुआ है :

जो तूं बाभन बंभनी जाया,
तो आन बाट होइ काहे न आया।
जो तूं तुरक तुरुकिनी जाया,
तो भीतरि खतना क्यूं न कराया।।[52]

जाति-पांत, वर्ग, सम्प्रदाय में बँटे होने के कारण पन्द्रहवीं-शताब्दी की स्थिति अव्यवस्थित थी, राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक विषम परिस्थितियों के कारण

---

51. कबीर सग्रह (हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रथम संस्करण : 2000) पृ0- 27, पद-21
52. डॉ0 पारसनाथ तिवारी- कबीर ग्रन्थावली, पद-182, पृ0- 106

समाज अव्यवस्थित अवस्था में था। इन्हीं परिस्थितियों के परिणाम् स्वरूप भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक संतों ने समाज-सुधार में भी अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया।

सन्त-परम्परा का अविर्भाव एक विशेष आदर्श को रखकर हुआ। संतों ने धर्म को एक व्यापक दृष्टि से देखा। धर्म को अलग-अलग कर देखने की बात का ही खण्डन संतों ने किया। उनकी दृष्टि में सभी धर्ममत, सम्प्रदाय एक हैं, उन्हें इस बात से चिढ़ थी कि यह हिन्दू-धर्म है, यह मुस्लिम, यह मसीही-धर्म है। संतों ने तथाकथित-धर्म के समर्थन और आपस में लड़ने का विरोध किया। उन्होंने धार्मिक एकता पर बल दिया। रज्जबः

'हिन्दू तुरक दून्यूँ जलबूंदा।
कासूं कह्यो बाभण सूदा'। (संत सुधासार, खण्ड-1, पृष्ठ-530)

संतों ने प्राचीनकाल से चली आ रही अवतारवादी विचारधारा का खण्डन किया और अवतारवाद को ढोंग बताया क्योंकि ईश्वर तो अनादि, अनन्त, जन्म-मरण से परे है।

जनमै मरै न संकटि आवै, नांव निरंजन जाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर अैसो जाकौ माई न बापौ रे।।[53]

संतों ने सभी धर्मों के समन्वय का प्रयास किया। हिंसा का त्याग कर कर्म का सन्देश दिया, उन्होंने कहा, योग, जप, तप चाहें जो करो, सांसारिक कर्मों से छुटकारा नहीं मिलेगा। संतों ने कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय का प्रयास किया।

संतों ने सर्व-धर्म-समन्वय की भावना का विकास किया। सभी धर्मों में निर्बल को न सताने, जीव की हिंसा न करने पर बल दिया गया है। 'अहिंसा परमो धर्मः'– यह मंत्र बौद्ध-धर्म से मिला है जो हिन्दू-धर्म का मूल मंत्र बन गया। संतों ने जीव-हत्या तो अलग, कटु-बचन को भी हिंसा में समाहित किया है :

---

53. कबीर संग्रह (हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) प्रथम सस्करण - 2000, पृ०- 33, पद-39

घट घट में वही साई रमता, कटुक बचन मत बोल रे।[54]

संतों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का प्रचार किया। उनका मानना था कि समाज का विकास भेद-भाव से नहीं हो सकता। ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में किसी प्रकार का भेद-भाव उचित नहीं। संतों की कोई जाति नहीं। वे सभी हरिजन हैं। इस प्रकार जाति-पांति को मिटाने का प्रयास संतों ने किया। 'सर्वजन-हिताय' भावना की बात की। उन्होंने समानता को समाज के धरातल पर उतारा। 'कागज की लेखी' के बजाय 'आँखिन की देखी' पर विश्वास कर उसी को प्रचारित किया। संतों ने स्वयं अपने जीवन में त्याग और कर्म को धारण किया। संतों ने सामाजिक व्यवहार के सन्तुलन एवं सामंजस्य पर बल दिया। सन्तोष वह साधन है जिससे मनुष्य एक आदर्श स्थापित कर सकता है। संतों ने मानवतावादी दृष्टिकोण का विकास किया। हिन्दू और मुसलमानों, दोनों को समान दृष्टि से देखा। हिन्दू-मुसलमान के मिथ्या भेदभाव का विरोध किया, क्योंकि दोनों एक ही हैं :

अल्लह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दू तुरक भेद कुछ नाहीं देखौ दर्शन तोरा।। (दादू)[55]

संतों ने 'विश्व-बन्धुत्व' की भावना का विकास किया, दया, क्षमा, उदारता की भावना का प्रचारकर मानव-हृदय को परिवर्तित करने की बात कही। समदृष्टि का प्रचार किया, क्योंकि 'साईं के सब जीव हैं' ।

संत-मत के अनुयायियों ने भाषा, धर्म, जाति, मत, सम्प्रदाय आदि का समन्वय कर एक नये समाज की रचना करने का प्रयास किया, जो मानवता की पृष्ठिभूमि पर आधारित था।

---

54 कबीर- डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0- 350

55. हिन्दी सन्त-काव्य-संग्रह (भूमिका से उद्धृत), पृ0- 45

इस प्रकार संतों का व्यक्तित्त्व सच्चे अर्थों में संवदेनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। मध्ययुग की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का संत-काव्य में स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वस्तुतः संतों ने अपने समय के मनव-समाज को दोषमुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है। उनकी रचनाओं में मानव की क्षुद्रता, सीमाओं, स्वार्थपरता, असत्यप्रियता, संकीर्णता, अर्थलोलुपता, कामुकता आदि का चित्रण, विवेचन और विश्लेषण हुआ है।[56] सामाजिक विसंगतियों, धार्मिक विडम्बनाओं, बहुदेवोपासना, मूर्तिभंजन आदि का समाधान भी संतों ने अपने विचारों द्वारा प्रस्तुत किया।

ꕤ●ꕤ

---

56 (सं0) डॉ0 नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 159

# अध्याय-5

# राष्ट्रीय एकता और संतों की तद्विषयक चेतना

## (क) राष्ट्रीय एकता विषयक चेतना :

राष्ट्र का निर्माण एक दिन में नहीं होता, उसके स्वरूप को बनने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। राष्ट्र की उत्पत्ति इतिहास के गर्भ से होती है और उसका संपोषण वर्तमान की गोद में होता है। पृथिवी उसे स्वरूप देती है। जन उसे प्राण देता है तथा संस्कृति उसे सौष्ठव प्रदान करती है। राष्ट्रीयता मुख्यतः मनोवैज्ञानिक भाव है। अतः संतों की राष्ट्रीय एकता विषयक चेतना पर विचार करने से पहले हम संतों से पूर्व (वैदिक-काल से लेकर) और उनके बाद आधुनिक काल तक इस पर दृष्टिपात करेंगे। राष्ट्रीय एकता की नींव वैदिककाल में आर्य-द्रविड़ सम्मिलन की ठोस आधारशिला पर रखी गई जो आज तक अंकपित एवं अडिग है।[1] रामायण काल में भारत की विराट राष्ट्रीय एकता के दर्शन राम की लंका-विजयिनी सेना में द्रविड़ तथा आर्य सैनिक एवं सेनाध्यक्षों को एक शरीर एवं एक प्राण होकर लड़ते देखकर होते हैं। हनुमान, सुग्रीव, जामवंत, अंगद आदि द्रविड़-योद्धाओं के बल पर ही तो राम राक्षसी शक्ति पर विजयी हो सके। उत्तर दक्षिण की यह सहयोग-भावना तथाएकता आज भी अलभ्य है।[2] महाभारत में भारत की राष्ट्रीय एकता एकबार पुनः मूर्तिमान हो उठी। कुछ क्षेत्र में एक-दूसरे के आमने-सामने खड़ी कौरव तथा पांडव सेनाओं के गठन पर दृष्टि डालने से ऐसा भान होता है कि भारत के उत्तर से लेकर सुदूर दक्षिण तक के सभी क्षेत्रों के प्रतिनिधि अपने सैन्य-दलों के साथ युद्ध क्षेत्र में उपस्थित थे।[3] वहाँ समुदाय जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा सभी के बन्धन टूट चुके थे। कुरु, पांचाल, अंग, बंग, हिमाचल, दक्षिणात्य आदि सभी क्षेत्रों के सैन्य दल

---

1 हरिवश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 58

2. हरिवश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 59

3 नेशनल इण्टिग्रेशन कान्फ्रेन्स स्टेटमेन्ट (1961 ई0) पृ0 2

महाभारत के युद्धक्षेत्र को एक लघु भारत का स्वरूप प्रदान कर रहे थे। तत्पश्चात् ई0पू0 छठी-शताब्दी में महावीर ने जैनधर्म द्वारा जाति-वर्ण, ऊँच-नीच के भेदभाव, यज्ञादि, देवपूजा एवं ब्राह्मणों के महत्त्व के भावों से ऊपर उठकर मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग की शिक्षा जन भाषा में दी तथा भारत की टूटती हुई एकता को पुनरूज्जीवित एवं सुदृढ़ करने का प्रभावकारी कार्य किया।[4] उनके ही समकालीन गौतम बुद्ध ने अपने मध्यम मार्ग द्वारा जन सामान्य की मुक्ति की बात कही। उनका अष्टांगिक मार्ग सामुदायिक एकता एवं सदाचार की भावना से उत्प्रेरित था। बुद्ध के अनुसार प्रेम से ही घृणा को जीता जा सकता है। इसमें न केवल भारत की राष्ट्रीय एकता, बल्कि समस्त विश्व की मानवीय एकता का मूल-मंत्र सन्निविष्ट है। 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' ही उनके उपदेश का सार है और आत्म-संयम उसका आधार।[5] भारत के क्रमबद्ध इतिहास काल में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय (314 ई0पू0 से 297 ई0पू0 तक) सर्व-प्रथम भारत की राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने का सुसंगठित प्रयत्न हुआ था और राष्ट्रीय एकता के प्रथम दर्शन भारतीय समुदाय को हुए।[6] उसका पौत्र अशोक उससे भी अधिक उदार, सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु, सभी के लिये कल्याण की कामना करने वाला, दीन-दुखी, प्रताड़ित एवं दलित जन-समुदाय का मसीहा था। उसने बौद्ध धर्म के मिस सारी मानवता को सेवा, सहिष्णुता, सद्भावना तथा अहिंसा के संदेश दिये। भारत की राजनीतिक एकता स्थापित करने का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य को है और उसकी अखण्डता को अक्षुण रखने का श्रेय अशोक को[7]। इस प्रकार राष्ट्रीय एवं मानवीय एकता का आंदोलन महावीर द्वारा जन्म पाकर, बुद्ध द्वारा गति पाकर तथा अशोक द्वारा पालित-पोषित होकर सदियों तक चलता रहा।[8] भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से विख्यात

---

4 हरिवंश तरुण- भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 60

5 राधा कृष्ण चौधरी- प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 132

6. हरिवंश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 61

7 राधाकृष्ण चौधरी- प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ0 63

8 हरिवश तरुण- भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 63-64

गुप्त-काल (275 ई0 से 510 ई0 तक) की सर्वश्रेष्ठ तथा प्रधान प्रवृत्ति धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता तथा उदारता का होना था। चन्द्रगुप्त-II जो विक्रमादित्य नाम से विख्यात है, के दरबार में विविध-विषयों के उद्भट विद्वान्, महान् कलाकार, रससिद्ध कवि तथा स्वरसाधक संगीतकार, जिन्हें 'नवरत्न' कहा जाता है, रहते थे, जिनके चुनाव में जाति या धर्म के भेद का दृष्टिकोण नहीं था। चीनीयात्री फाहियान तक वर्षों दरबार में दसवें रत्न के रूप में सम्मान प्राप्त करता रहा। देश में चारों ओर व्यक्ति अपने विश्वास के साथ किसी भी धर्म को अपना सकते थे, किसी पर कोई बाहरी दबाव नहीं था। बसने, आने-जाने तथा व्यापार करने की स्वच्छन्दता के कारण राष्ट्र में संकुचित क्षेत्रीय भावना का विषवृक्ष अंकुरित नहीं हुआ था। देश-द्रोह को सबसे बड़ा अपराध घोषित कर राष्ट्रीय एकता को सर्वोपरि स्थान दिया गया था। वस्तुतः गुप्त सम्राटों ने देश की पृथकता की भावना को समूल नष्ट कर देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया और एकक्षत्र शासन स्थापित कर साम्राजय स्थापित किया, जिसके कारण देश में विभिन्नताओं का अंत हो गया और एकता का वातावरण उत्पन्न हुआ, देश में शांति फैली और सबका ध्यान अपनी तथा देश की ओर आकर्षित हो गया।[9] हर्षवर्द्धन के समय में भी सामाजिक-धार्मिक सहिष्णुता तथा सद्भावना का दीप राष्ट्र के जीवन में प्रज्वलित रहा। वह उदार तथा धार्मिक स्वतंत्रता का पोषक था। हर्ष उत्तर तथा दक्षिण-भारत को एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत रखने के लिए प्रयत्नशील था।[10] उसके दरवार में विभिन्न धर्मों तथा क्षेत्रों एवं देशों के विद्वान्, कवि एवं इतिहासकार - बाण, मयूर, दिवाकर तथा ह्वेनसांग - रहते थे। इसप्रकार हर्ष राजनीतिक, प्रशासकीय, सांस्कृतिक एवं भावात्मक क्षेत्रों में राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्नशील था।[11]

---

9 मेहरा तथा तयागी-भारतीय सस्कृतिका विकास, पृ0 180

10 मजुमदार, रायचौधरी तथा दत्त -एनशियट इण्डिया, पृ0 152

11 हरिवंश तरूण- भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 65

हर्ष के बाद 300 वर्ष राजनीतिक फूट और बौद्धिक निष्क्रियता का काल था। देश अनेक छोटे राज्यों में विभाजित हो गया था, जिसने उनमें रहने वाले लोगों का दृष्टिकोण उनके अपने छोटे संसार तक सीमित बना दिया और राष्ट्रीय एकता की भावना करीब-करीब पूरी तरह गायब हो गयी।[12] धार्मिक और बौद्धिक जीवन औपचारिकताओं तथा सत्तावाद के प्रभाव में था। पौराणिक हिंदुत्त्व के दो पंथ, शिव और विष्णु की पूजा करने वाले दो अलग-अलग धर्मों के रूप में विकसित हो गये थे। धार्मिक चेतना बहुत अधिक थी किन्तु ताजगी और गहराई नहीं थी। 1192 ई0 में मुहम्मद गोरी ने दिल्ली पर विजय पायी और मुसलमानों की सल्तनत स्थापित (1206ई0) हुई। 'दिल्ली सल्तनत की स्थापना भारत के इतिहास में एक युग का निर्माण करने वाली घटना थी। हर्ष की मृत्यु के 500 वर्षो में पहली बार भारत में पर्याप्त राजनीतिक एकता आयी। यद्यपि नये राजा विदेशी थे, किन्तु उन्होनें भारत को अपना घर बना लिया।[13] सन् 1253 ई0, यानी भारत पर इस्लामी राज्य के आरम्भ से केवल 61 साल बाद, भारत ने उस मुसलमान को जन्म दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी महापुरुष था। वह हिन्दू-मुसलिम एकता का सर्वप्रथम प्रवक्ता कहा जा सकता है। 'संभव है, कोई मुझसे पूछे कि भारत के प्रति मै (खुसरो) इतनी श्रद्धा क्यों रखता हूँ। मेरा उत्तर है, कि केवल इसलिए कि भारत मेरी जन्मभूमि है, भारत मेरा अपना देश है। खुद नबी ने कहा है कि अपने देश का प्रेम आदमी के धर्म-प्रेम में सम्मिलित होता है।[14] इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की मशाल प्रज्वलित करने वाले अमीर खुसरों में हिन्दुओं तथा मुसलमानो के द्वारा समान रूप से बोली जाने वाली जनभाषा को अपना माध्यम बनाया। अपने उपदेशों तथा साहित्यिक कृतियों के द्वारा उसने हिन्दुओं एवं मुसलमानों को एक सूत्र में

12 एस0 आबिद हुसैन- भारत की राष्ट्रीय सस्कृति, पृ0 56

13 एस0 आबिद हुसैन - भारत की राष्ट्रीय सस्कृति, पृ0 69

14. डॉ यूसुफ हुसैन - ग्लिम्प्सेज आफ मेडिवल इण्डियन कल्चर (संस्कृति के चार अध्याय से उद्धृत, पृ0 276)

बॉधने का सफल प्रयास किया।[15] मुहम्मद तुगलक सल्तनत काल का पहला शासक था जिसने हिन्दुओं के प्रति समझौतावादी नीति अपनाई।[16] अपने दरबार में हिन्दू तथा मुसलमान विद्वान्ों एवं कलाकारों को समान स्थान दिया तथा हिन्दुओं के बीच प्रचलित सती प्रथा को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाये। एस० आबिदहुसैन : ''सिकन्दर लोदी और शेरशाह सूरी के अधीन, राज्य सेवाओं में धार्मिक भेदभाव लगभग समाप्त हो गये थे। हिन्दुओं ने कुछ बड़े उत्तरदायी पद पाने के लिए अदालतों की भाषा परसियन् सीखना प्रारम्भ कर दिया।''[17] अन्य क्षेत्रीय छोटे मुसलमान राज्यों (वंगाल, बहमनी, कश्मीर) ने तो और भी समानता की नीति अपनाई तथा हिन्दुओं का प्रेम और विश्वास जीत लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दुओं ने मुसलमान-विरोधी रूख शिथिल करना प्रारम्भ कर दिया। एक मजबूत धारा जिसने समन्वय द्वारा राष्ट्रीय एकता को मजबूत किया, मुसलमान सूफियों और हिन्दू संतों द्वारा भक्ति-धारा की मध्यस्थता की ऐतिहासिक भूमिका थी। एस0 आबिद हुसैन के अनुसार भारत के अधिकांश सूफियों ने चिन्तन किया और आदर्श अद्वैतवाद के रूप में दिव्य एकात्मकता की शिक्षा दी। हिन्दुओं ने उनके विचारों को वेदान्त दर्शन के समान पाया और स्वाभाविक रूप में उनसे आकर्षित हुए। किन्तु नीची जाति के हिन्दुओं के लिए सबसे बड़ा आकर्षण इस्लाम के सामाजिक संगठन की ओर था, जो समानता और बंधुता पर आधारित थे, और अब भी उसमें कुछ गुण विद्यमान है। काफी बड़ी संख्या में हिन्दुओं ने इस्लाम धर्म अपनाया और जिन्होंने नहीं अपनाया वे मुसलमानों के प्रति अब अच्छा व्यवहार करने लगे।[18] दूसरी बड़ी ताकत जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सामान्य धार्मिक सद्भावना का वातावरण उत्पन्न किया, भक्ति-आंदोलन था, जिसे उत्तर-भारत में रामानन्द (14वीं-15वीं शती) ने लोक-प्रिय बनाया। रामानन्द ने अपने संप्रदाय के द्वार सभी चार

---

15. डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद- द यूनिटी ऑफ इण्डिया, पृ0 50
16 एस0 आबिद हुसैन - भारत की राष्ट्रीय सस्कृति पृ0 73
17 एस0 आबिद हुसैन- भारत की राष्ट्रीय सस्कृति, पृ0 73
18 एस0 आबिद हुसैन- भारत की राष्ट्रीय सस्कृति, पृ0 74

जातियों, स्त्रियों, पुरूषों और मुसलमानों के लिए भी खेल दिये। उन्ही के एक अन्य महान् शिष्य कबीर ने अपना स्वयं का आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसने केवल हिन्दुओं को नहीं बल्कि बहुत से मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित किया। कबीर द्वारा गाये गये प्रेम और भक्ति के गीत भारत की आम जनता, हिन्दू, मुसलमानों तथा अन्य की धार्मिक भावनाओं की गहनतम स्वर संगति है।[19] कबीर ने हिन्दू-मुसलिम एकता के माध्यम से सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता का निर्भीक शंक फूंका।[20] दिल्ली-सल्तनत के अन्तिम शासक इब्राहिम लोदी को 1526 में मारकर बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य स्थापित किया गया। उसने अपने बेटे हुमायूँ के लिए तैयार किये गये वसीयतनामें में राष्ट्रीय एकता को दृष्टि में रखते हुए राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक सद्भावना के मूल-मंत्र का उल्लेख इस प्रकार किया ''हिन्दुस्तान में अनेक धर्मों के लोग रहते हैं। तुम तआस्सुब से काम लेना; निष्पक्ष होकर न्याय करना और सभी धर्मों की भावना का ख्याल रखना। किसी भी सम्प्रदाय के पूजा-स्थल को नष्ट नहीं करना।'' शेरशाह के शासन काल में राष्ट्रीय एकता का बड़ा ही व्यापक प्रयास हुआ। अपनी सेना में तथा अपने सलाहकारों में हिन्दुओं तथा मुसलमानों को समान रूप से स्थान दिया। सारे उत्तर-भारत के हृदय को मिलाने वाले राजपथ का निर्माण कराया, जिसे हम ग्राण्ड ट्रंक रोड के नाम से जानते हैं। सारे देश में प्रशासन की एकरूपता स्थापित की। वस्तुतः शेरशाह राष्ट्र में व्याप्त अव्यवस्था एवं विघटन को समाप्त करने में सफल हुआ।[21] शेरशाह के समकालीन मलिक मुहम्मद जायसी एक प्रेम-मार्गी सूफी साधक होते हुए भी, हिन्दू कथानक को 'पद्मावत' के द्वारा लोक भाषा अवधी में प्रस्तुत किये तथा उन्होंने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखाया। भारतीय इतिहास में साम्प्रदायिक सद्भावना, धार्मिक सहिष्णुता, राजनीतिक उदारता0 तथा राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा मसीहा सम्राट् अकबर हुआ। एस0 आबिद हुसैन : ''बह मुगल सम्राट् अकबर था, जिसने हजार वर्षों में, जो हर्ष की

---

19 एस0 आबिद हुसैन - भारत की राष्ट्रीय सस्कृति, पृ0 74

20 हरिवश तरूण - भारत की राष्ट्रीय एकता पृ() 68

21. हरिवश तरूण - भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 69

मृत्यु के समय से बीत चुका, पहलीबार भारत की राष्ट्रीय एकता को पुनर्जीवित करने के लिए सजगता से प्रयत्न किए।[22] चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद अकबर ही ऐसा शासक था जिसने अखण्ड भारत की राजनीतिक, प्रशासनिक एवं सामाजिक एकता का स्वप्न देखा था। उसने सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त कर सच्ची राष्ट्रीय एकता का श्रीगणेश किया। अकबर एवं जहाँगीर के शासन के समय तुलसीदास हुए जो बड़े उदारचेता एवं समन्वयवादी थे। जात-पांत से परे असाम्प्रदायिक थी उनकी भावना- 'मांगि के खेबो, मसीत में सोइबो, लेवे को एक न देबे को दोऊ' (कवितावली) 'धूत कहै अवधूत कहै, राजपूत कहै, जोलहा कहे कोई' (कवितावली)। इस प्रकार लोकनायक तुलसी ने विघटन के कगार पर खड़े तत्कालीन राष्ट्र को राष्ट्रीय एकता का मूलमंत्र समस्त मानवता में राम को व्याप्त मानकर दिया-'सीय राममय सब जग जानी' (रामचरित मानस)।

इस प्रकार अकबर द्वारा राष्ट्रीय एवं साम्प्रदायिक एकता का जलाया गया दीपक जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय तक अकंपित जलता रहा, किन्तु उसके उपरान्त उसकी लौ कंपित होने लगी। औरगंजेब की धार्मिक कट्टरता एवं साम्प्रदायिक असहिष्णुता की नीति ने उसके राजनीतिक-प्रशासनिक एकता के प्रयास को निष्प्राण कर दिया और उसकी मृत्यु उपरान्त मुगल साम्राज्य बालू की भीत की तरह विखर गया। राष्ट्रीय एकता की अपूर्णीय क्षति हुई।

18 वीं शताब्दी में भारत पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया उन्होंने प्रायः दो सौ वर्ष तक भारतियों का सब प्रकार का शोषण किया, भले ही सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकता के सूत्र में निश्चित रूप से बॉध दिया गया। अंग्रेजों ने सामाजिक एवं धार्मिक भेद के बीज भी बोये। देश में सामंतवाद तथा पूँजीवाद विदेशी स्वार्थ की इच्छा पर सभी प्रकार के कुकर्म करते रहे।

---

22 एस0 आबिद हुसैन- भारत की राष्ट्रीय संस्कृति पृ0 69

अठ्ठारहवीं शताब्दी में बंगाल में राजा राम मोहन राय का प्रादुर्भाव हुआ। दुनिया के वे पहले आदमी हैं, जिन्होंने धर्मों का आपस में मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी की खोज की। वह केवल एक विद्वान् और एक अन्वेषक ही नहीं थे; सबके ऊपर वह एक सुधारक थे।[23] धर्म को उन्होनें कुरीतियों और कुप्रथाओं से छुड़ाने की कोशिश की। सतीप्रथा समाप्त कराने में उन्हें सफलता मिली। उन्होनें अतिशय पाश्चात्य-अंधानुकरण एवं ईसाइयत के प्रभाव तथा कट्टर भारतीय धर्मपन्थियों-दोनों का विरोध कर बीच का युक्ति-युक्त मार्ग अपनाया। 'उनका हृदय पूर्व और पश्चिम के उत्तम तत्त्वों के समन्वय में लगा था जिसे वह समकालीन भारतीय स्थितियों में स्थापित करना चाहते थे।'[24] उन्होनें जातिवाद पर प्रहार करते हुए बताया, 'जाति पांति के कारण भारतीय समाज जड़ हो गया था और इससे लोगों की एकता तथा धनिष्ठता के बाधा पड़ती थी। इस अनगणित विभाजनों के कारण देश-प्रेम की भावना उत्पन्न ही नहीं होती। जाति-पांति के बन्धनों को हटाने के लिए शैव वैवाहिक पद्धति अपनानी चाहिए।[25] वह सभी धर्मों की एकता पर बल देते थे क्योंकि सभी धर्मों में नैतिक एवं सामाजिक तत्त्व एक है। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज का उद्देश्य उस शाश्वत, अप्राप्य और अचल ईश्वर की पूजा था जो सभी धर्म कर सकते थे। उनका उद्देश्य संसार के सभी धर्मों को जाति, मत, देश इत्यादि के बन्धनों से दूर, एक ईश्वर के चरणों में लाना था।[26] भाषायी चेतना भी आधुनिकता एवं उपयोगिता से प्रेरित थी। तभी उन्होंने संस्कृत शिक्षा को भारतीय अन्धकार दूर करने में असमर्थ बताया। इस प्रकार वे राजनीतिक, शैक्षिक तथा सामाजिक स्तरों पर राष्ट्रीय एकता के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। सच में वे आधुनिक भारत के पिता थे।[27]

---

23 जवाहर लाल नेहरू- हिन्दुस्तान की कहानी, पृ0 360

24 वी0 एल ग्रोवर - आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्याकन, पृ0 450

25 वी0 एल ग्रोवर - आधुनिक भारत का इतिहास एक नवीन मूल्यांकन, पृ0 451

26 हरिवश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 73

27. हरिवश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 73

1857 ई0 का विद्रोह भारत में ब्रिटिश शासन के खिलाफ विस्तृत पैमाने पर प्रथम प्रत्यक्ष चुनौती था। भले ही इसका स्वरूप स्थानीय एवं सीमित था किन्तु इस विद्रोह ने भारतीय जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना तथा भावात्मक एकता को जन्म दिया।[28] 1885 ई0 में अलन आंक्टेवियन ह्यूम की प्रेरणा से स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो आरम्भ में विद्रोह को निसृत करने वाली नलिका थी, शीघ्र ही गोखले, तिलक, गांधी, सुभाष, नेहरू प्रभृति राष्ट्रवादी नेताओं को प्राप्त कर राष्ट्रवादी संस्था बन गयी। सन्' 57 के बाद से बिखरती राष्ट्रीयता को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने तो हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य, जातिभेद, छुआछूत, सामाजिक अन्याय, परदा-प्रथा, अर्थिक शोषण तथा परतन्त्रता के खिलाफ अभियान चलाया। राष्ट्रीय एकता की मशाल को हाथ में लेकर साम्प्रदायिक सद्भावना के पथ को उन्होंने आलोकित किया। उनके अहिंसात्मक आन्दोलनों में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी आदि सभी धर्मों के लोग अंग्रेजों के खिलाफ एक जुट हुए। खिलाफत आंदोलन में मुसलमानों का साथ देते समय गांधी ने कहा भी था कि 'हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने का ऐसा अवसर सौ वर्षों में भी नहीं आता'। इसके बाद में असहयोग आंदोलन में मुसलमानों ने भी हृदय से साथ दिया। गांधी ने न केवल देश के स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व किया; बल्कि राष्ट्रीय एकता की मशाल से सभी, भारतीयों को रास्ता भी दिखाया। उनका प्रिय भजन आज भी राष्ट्रीय-सांप्रदायिक एकता सूचक स्वर में भारतीय लोगों के दिलों में गूंज रहा है-

रघुपति राघव राजा राम,
पतित-पावन सीता राम
ईश्वर अल्ला तेरों नाम
सबको सन्मति दे भगवान।

कबीर से मिलायें-

---

28 वी0 एल ग्रोवर - आधुनिक भारत का इतिहास · एक नवीन मूल्याकन, पृ0 73

मेरे संगी दुइ जना, इक बैष्नो इक राम ।
वह है दाता मुकित का, वह सुमिरावे राम ।। (साखी)

अल्लाह राम जिऊ तेरे नाई।
वंदेऊपरि मिहिर करौ मेरें साई ।। (सबद)।

राष्ट्रीय एकता का सर्वाधिक दैदीप्यमान स्वरूप 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के समय देखने को मिला। 9 अगस्त को जब सारे नेता गिरफ्तार कर लिए गये, तो सारे देश में जन विद्रोह की आग भड़क उठी। विद्यार्थी, युवक, किसान, नौकरी पेशेवर, व्यापारी, सभी आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। सारे राष्ट्र में आक्रोश तथा क्रोध की ज्वाला भड़क उठी। सारा भारत एक शरीर और प्राण होकर राष्ट्र-मुक्ति-यज्ञ के हवन कुंड में अपने प्राणों की समिधा देने को तत्पर हो गया। उधर नेता जी सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेजो की नजरबंदी से निकलकर जर्मनी तथा जापान होते हुए सिंगापुर में आजाद हिन्द फौज को संगठित किये तथा जापानी सेना के साथ उनकी फौज (1943 में) भारत की सीमा तक बढ़ आई। दुर्भाग्य से उनकी मौत हो गयी किन्तु आजाद हिन्द फौज के सैनिकों पर जब लाल किले में मुकदमा चलाया गया तो सारा राष्ट्र एक बार पुनः आक्रोश में हुंकार उठा। भूला भाई देसाई, जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं ने आजाद हिंद फौज वालो की वकालत की। राष्ट्रीयता की लौ आसमान छूने लगी। रही सही कमी पूरी कर दी रॉयल भारतीय नौ-सेना की नाविक श्रेणी (रेटिंग्स) की खुली बगावत ने (18 फरवरी, 1946 ई0)। भारतीय फौज में राष्ट्रीय भावना से प्रेरित, राष्ट्रीय एकता के इस प्रबल एवं विराट रूप को देखकर ब्रिटिश सरकार घबरा गई क्योंकि जनसाधारण में तो यह भावना पहले से ही आक्रोश रूप में धधक रही थी। फलस्वरूप 15 अगस्त 1947 ई0 को भारत आजाद तो हो गया, मगर ब्रिटिश सरकार की बाँटने वाली चाल काम कर गयी और भारत खंडित हो गया। फिर भी राष्ट्रीय एकता की जनव्यापी धारा मरी नही। अंग्रेजों के खिलाफ इस एकता के विकसित होने के कारणो में उनके द्वारा किया गया यहाँ की जनता का शोषण और स्वयं का विदेशी ही बने रहने का विजातीय चरित्र। डॉ0

ताराचन्द के अनुसार, 'वस्तुतः खाने और कपड़े की कमी और दमन भारत के करोड़ों लोगों के हृदय मे मरने-मारने की भावना को सुलगा रहे थे और वे उन लोगों के पीछे चलने को तैयार हो रहे थे जिनसे उन्हें बेहतर जीवन की आशा थी।[29] अंग्रेजों ने भारतीयों के साथ मिलना एवं घुल जाना अस्वीकार किया, इस लिए वे तभी तक भारत में रह सकते थे, जब तक भारत असंगठित था। पर ज्योही भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना फैली त्यों ही यह आवश्यक हुआ कि वह अपने शरीर में से इन विदेशी तत्त्वों को निकाल बाहर करें।[30] इस प्रकार राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के दौरान भारत में एकता का राजनीतिक पक्ष अत्यधिक प्रबल होकर चमका।[31] आजादी के बाद राजनीतिक एकता का ऐतिहासिक कार्य सरदार पटेल ने लगभग छ. सौ रियासतों को भारतीय गणतंत्र का अभिन्न अंग बनाकर किया। इस दिशा में सरदार ने निःसंदेह बिस्मार्क से भी आगे बढ़कर शानदार पार्ट अदा किया।[32] भारत की धरती को पूर्ण सशक्त राजनीतिक एकता संविधान (26 जनवरी 1950 ई0 से लागू) के द्वारा प्राप्त हुई। एक राष्ट्र, एक राष्ट्रीयता एक नागरिकता और एक समान अधिकार इस संविधान के द्वारा समस्त भारत-वासियों को इतिहास में प्रथम बार प्राप्त हुए। भारतीय संविधान की प्रस्तावना स्वाधीन भारत की आन्तरिक-सामाजिक एवं राजनीतिक एकता के दृढ़ निश्चय का बहुत ही ज्वलंत प्रमाण है। इसमें जहाँ नागरिको के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय की गारन्टी दी गयी है, वहीं वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय एकता को भी सुनिश्चित किया गया है। उसमें लोक-सम्प्रभुता का भी निश्चित निर्देश है।[33] भारतीय संविधान राष्ट्रीय एकता, सुरक्षा एवं स्वाधीनता को सुदृढ़ करने के समवेत प्रयासों का प्रतिफलन है। इसके अनुसार भारत के सारे नागरिक, बिना किसी भेदभाव के समान है। नागरिकों के साथ धर्म, मूलवंश अथवा जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार

---

29 डॉ0 ताराचन्द -भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन का इतिहास पृ0 459

30. डॉ0 ताराचन्द -भारतीय स्वतत्रता आन्दोलन का इतिहास पृ0 462

31. हरिवंश तरूण- भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 77

32 भागवत प्रसाद जायसवाल - अंग्रेजी राज्य का उदय और अस्त - पृ0 624

33. हरिवंश तरूण- भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 79

पर कोई भी भेदभाव नहीं किया जायेगा। (अनु0 15)। बिना किसी भेदभाव के सभी भारतीय नागरिको के लिए अवसर की समानता की भी व्यवस्था की गयी (अनु0 16)। कमजोर वर्गो को कुछ रियायते भी देने की व्यवस्था है। संविधान के अन्तर्गत समस्त भारतीय संघ के लिए एक राष्ट्रपति, एक संसद, एक उच्चतम न्यायालय, एक राजभाषा (हिन्दी), एक निर्वाचन आयोग तथा एक सेना का प्रावधान व्यापक राष्ट्रीय एकता की दिशा में एक विराट एवं ठोस प्रयास है। बाह्य आक्रमण अथवा आंतरिक अशान्ति की स्थिति में राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ रखने तथा आन्तरिक एकता को बनाये रखने के लिए संघीय सरकार को व्यापक आपातकालीन अधिकार संविधान द्वारा सौपे गये हैं।[34]

स्वाधीन भारत में राष्ट्रीय एकता के दीपक को बुझाने की बहशी बयारें कभी-कभी तेजी से बहने लगती हैं। इसी को लेकर कुछ विशिष्ट लोग संविधान की पुनः समीक्षा की माँग करते हैं और उसे बदलने तथा नया संविधान लिखने की वकालत करते हैं। उनका तर्क है कि संविधान पुराना पड़ गया है और समय पर खरा नहीं उतरा है। संविधान से जो अपेक्षा थी, वह पूरी नही हो पायी। इसी संदर्भ में जस्टिस वेंकटचलैया की अध्यक्षता में एक संविधान समीक्षा आयोग गठित कर दिया गया है। वस्तुतः जैसा कि डॉ0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा कि ''कोई भी व्यवस्था पूरी तरह निर्दोष नहीं हो सकती, किसी संविधान में चाहें लाख बुराइयाँ हो, यदि उसे लागू करने वाले लोग ईमानदार हो तो अंततः वह व्यवस्था अच्छी ही साबित होगी।'' हमे यह देखना चाहिए कि संविधान विफल रहा या हमने संविधान को विफल किया। डॉ0 सुभाष काश्यप ने ठीक ही कहा है-''पहले अंग्रेजों के लिए कहा करते थे कि उनकी कूटनीति थी कि ''फूट डालो, राज करों'' किन्तु आज के अनेक नेता भी वही कुछ कर रहे हैं। राष्ट्र-निर्माण का आधार है राष्ट्रीय एकता ओर मूलभूत प्रश्नों पर मतैक्य, जबकि (आज) सत्ता के सौदागरों के लिए सबसे अधिक मूल्यवान है वोटों का गणित। वह तो पलते-पनपते हैं फूट पर, विखण्डन-विभाजन पर, बॅटवारे पर। जाति, उपजाति, भाषा,

---

34 हरिवंश तरूण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 80

प्रदेश के आधार पर या फिर सैक्यूलरवाद का नारा लागाकर, समाज को परस्पर विरोधी टुकड़ो में बॉट्कर, लोगों को एक-दूसरे के विरूद्ध लड़ाकर, अपने-अपने समूह की अलग-अलग पहचान बनाने के लिए निहित स्वार्थ पैदा कर, चुनावी पैतरेबाजी करना और अपना उल्लू सीधा करना ही इस व्यवस्था में राजनीतिक दलों का काम है। यही कारण है कि अंग्रेजी ढंग के लोकतंत्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का, एक राष्ट्रीय भावना के निर्माण का, एक संगठित भारतीय समाज की पहचान बनाने का हमारा उद्देश्य पूरा न हो सका।[35] वस्तुतः राष्ट्रीय संकट की घड़ी (कारगिल झड़प, उड़ीसा चक्रवात से अपार जन धन की हानि आदि) में भावनात्मक स्तर पर जो एकता दिखायी देती है वह बाद में धूमिल होती सी दिखती है। 'हमारा समाज जितना विभाजित आज है पहले कभी नहीं रहा। जुड़ने के बजाय हम बिखरे हैं, राष्ट्रीयता और एकता की बाते पुरानी पड़ गयी हैं और जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय और क्षेत्रीयता के आधार पर नई पहचाने सर्वोपरि हो गयी हैं।[36] ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता विषयक चेतना की जाग्रति एवं मजबूती पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस विषम परिस्थिति में संतों की एकता विषयक चेतना हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

## (ख) संतों की राष्ट्रीय एकता विषयक चेतना :

### 1. साम्प्रदायिक सद्भाव : हिन्दू-मुस्लिम एकता :

संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि संभव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है।[37] प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी भावना के अनुसार अलग-अलग संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं,

---

35 डॉ0 सुभाष काश्यप (पूर्व महासचिव लोक सभा (1983-1990)- वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे संविधान समीक्षा (लेख से, पालिटिक्स इण्डिया' पत्रिका के अंक अगस्त 1998 में प्रकाशित), पृ0 32

36 डॉ0 सुभाष काश्यप– पूर्वोक्त लेख 'वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे संविधान समीक्षा' (पत्रिका पालिटिक्स इण्डिया अक अगस्त 1998), पृ0 32

37. हरिवंश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता- पृ017

परन्तु उन सबका मूल-आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है। संस्कृति राष्ट्र का प्राण है। संस्कृति में राष्ट्र के समस्त तत्त्व समाहित होते हैं। जनसंस्कृति की एकता राष्ट्र की आत्मा है।[38] राष्ट्रीयता देशवासियों के हृदय में भ्रातृभाव जगाती है। राजनीतिक सीमाएँ तथा बाह्य स्वरूप तो मात्र उसकी स्थूल अभिव्यक्ति है और राष्ट्रीय एकता मूलतः भावात्मक है- एक ऐसी सामुदायिक भावना जो किसी देश के नागरिकों के मन में विकसित होती है। यह भावना मूलतः अर्जित है; जन्मजात अथवा नैसर्गिक नहीं। इसे मनुष्य अपने सामाजिक जीवन, शिक्षा, परम्पराओं जैसे विभिन्न स्रोतों के माध्यम से प्राप्त करता है। वास्तव में एकीकरण की प्रक्रिया कोई साधारण प्रक्रिया नहीं है। अनेक व्यक्तियों को भौगोलिक सीमा में बांधकर या एक संविधान देकर या एक निश्चित सरकार देकर उनमें एकीकरण नहीं प्राप्त किया जा सकता, भले ही ये एकीकरण की महत्त्वपूर्ण दशाएं हैं। परन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण दशा व्यक्तियों की मनोदशा से संबंधित है। वस्तुत. एकीकरण की भावना तो समुदाय के लोगों के मानस में विकसित होती है। इसके लिए आवश्यक है कि विभिन्न उप-समूह अपनी संस्कृति को ही महत्त्व न दें। वे राष्ट्र की संस्कृति को अपना लें और उससे अपना पूर्ण एकीकरण कर लें। बाह्य भौगोलिक अथवा राजनीतिक एकता स्थायी तब तक नहीं हो सकती जब तक उस राष्ट्र के निवासियों के हृदय और मन अपना-पन के भावों से ओतप्रोत न हो। ''राष्ट्रीय एकता मात्र एकपक्षीय भावना नहीं है अपितु इसमें मनोवृत्तियों तथा प्रयोगों का विशाल क्षेत्र आता है। राजनीतिक दृष्टि से इसके अंतर्गत जहाँ सुरक्षा तथा मुद्रा की अविभाज्य एकता आती है, वही क्षेत्रीय स्वशासन एवं विकेन्द्रीकरण भी सम्मिलित है। आर्थिक क्षेत्र में एकता से तात्पर्य होता है सम्यक् उत्पादन एवं वितरण। जहाँ तक धर्म तथा संस्कृति का सम्बन्ध है, पारस्परिक सहिष्णुता तथा भाषिक एवं पारंपरिक

---

38. हरिवंश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ०2।

सह-अस्तित्व ही एकता के प्राण हैं। वस्तुतः पारस्परिक वैमनस्य एवं संघर्ष के कारणों का उन्मूलन ही राष्ट्रीय एकता का बीजारोपण है।[39]

संतों ने अपने समय की विषम राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों के बीच मनुष्य-मात्र की एकता की भावना का आदर्श प्रस्तुत किया और बताया कि सभी एक ही परमात्मा की संतान हैं। धर्म, जाति और वर्गभेद समाज में वैमनस्य एवं संघर्ष तथा विघटन पैदा करता है। संतों की इस भावना के पीछे तत्कालीन विघटनकारी माहौल जिम्मेदार था। देश में मुसलमानों के जमकर बस जाने और उन के अत्याचारों के दिनोदिन बढ़ते जाने से एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे हिन्दू, मुसलमान, छूत-अछूत, ऊँच-नीच सभी अपना सकें। यही आगे चलकर निर्गुण पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मार्ग का मुख्य उद्देश्य था जाति-पांति, ऊँच-नीच आदि के मिथ्याभेदभाव को हटाकर मनुष्य मात्र को एक प्रेमसूत्र में बांधना।[40] इस दिशा में एकता का प्रयास पहली बार नामदेवजी ने आरम्भ किया। नामदेव जी यद्यपि आरम्भ में स्वयं सगुणोपासक थे पर मुसलमानों के अत्याचारों से मर्माहत होकर उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को एक-सूत्र में लाने का निर्गुणपंथी तरीका अपनाया। एक स्थान पर वे कहते हैं-

> पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
> लैकर टेंगा टेंगरी तोरी लंगत लंगत आती थी।
> पांडे तुम्हारा महादेव धौला बलद चढ़ा आवत देखा था।
> पांडे तुम्हारा रामचंद सो भी आवत देखा था।
> रावन सेती सरवर होई, घर की जोय गंवाई थी।
> हिन्दू अंधा तुरकौ काना, दुहौ तै ज्ञानी सयाना।।
> हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
> नामा सोई सेबिया, जहै देहरा न मसीद।।[41]

---

39. के0 संथानम्- द एजूकेशन क्वार्टरली (जनवरी, 1970), पृ05
40 गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य- सग्रह (भूमिका), पृ० 21
41. गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य- सग्रह (भूमिका से उद्धृत), पृ० 21

नि.सन्देह नामदेव बिलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न और बड़े दूरदर्शी रहे होंगे जिन्होंने बहुत पहले जान लिया था कि भारत में हिन्दू-मुसलमान तथा छूत-अछूत सबको एकता के सूत्र में बाँधने वाला यदि कोई सामान्य भक्तिमार्ग का प्रचार न किया जायेगा तो या तो सारा देश नास्तिक हो जायेगा या भयानक वर्गयुद्ध में फँसकर सब एक दूसरे से लड़ मरेंगे। यही सोचकर इन्होंने एक ओर तो मंदिर-मस्जिद की निःसारता घोषित करते हुए सर्वत्र ईश्वर की विद्यमानता का प्रचार किया तथा दूसरी ओर मूर्तिपूजा आदि को अनावश्यक बताते हुए राम-रहीम की एकता का राग भी शुरू किया।[42] जैसे-

आपुन देव देहरा आपुहि आपु लगावै पूजा।
जलते तरंग तरंग ते है, जल कहन सुनन को दूजा।
आपुहि गावै, अपुहि नाचै, आपु बजावे तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर, जन ऊरा तू पूरा।।

ईरानी तसव्वुफ भारतीय वेदान्त के प्रभाव में बड़ा था, अतएव, जब वह भारत पहुँचा, इस देश में उसे तैयार जमीन मिल गयी। यह नया धर्म बहुत से भारत-वासियों को परम अनुकूल दिखायी पड़ा। यह उन्हें भी रुचा जो वैदिक धर्म के अनुष्ठानों से विरक्त थे और उन्हें भी जो सामाजिक धरातल पर हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए कोई सम्मिलित राह निकालना चाहते थे। भारत में इस नये आन्दोलन के सबसे बड़े नेता महात्मा कबीरदास हुए। हिन्दू-मुस्लिम एकता के हमारे देश में तीन बड़े नेता कबीर, अकबर और महात्मा गांधी हुए हैं। गांधी जी की विशेषता यह थी कि वे किसी भी धर्म को छोटा नहीं कहते थे। सभी धर्मों पर उनकी समान भक्ति थी और सभी धर्मों को समान समझने का ही वे उपदेश भी देते थे। अकबर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म सर्वविधपूर्ण नहीं था। उनकी कोशिश थी कि सभी धर्मों की अच्छी बातें लेकर एक नया धर्म चलाया जाय जो सबको संतोष दे सके। लेकिन कबीर अपने इन दोनों उत्तराधिकारियों से बिल्कुल भिन्न रहे। उन्होंने यह नही कि हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों

---

42 गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य- संग्रह (भूमिका से ), पृ० 22

के दोनों अच्छे धर्म हैं, अतएव हिन्दुओं और मुसलमानो को आपस में मिलकर रहना चाहिए। उलटे उन्होंने इस बात की खुली घोषणाा की कि हिन्दुत्व और इस्लाम, दोनों के दोनों अधूरे धर्म हैं।[43] जिस निर्भीकता से उन्होंने हिन्दुओं के वेद, वर्णाश्रम-धर्म, जात-पांत आदि का विरोध किया उसी बहादुरी के साथ इस्लाम के अनुष्ठानों की आलोचना की। यही कारण था कि सनातनी रुढ़ियों के संरक्षक समझे जाने वाले ब्राह्मण और मुल्ला दोनों ही कबीर के कट्टर विरोधी हो गये। धर्म के ठेकेदारों-पण्डित और मुल्ला की एक साथ खबर ली-

संतों राह दुनो हम डीठा।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सभन्हि को मीठा।
अन को त्यागैं मन को न हटकैं, पारन करै सगोती।
तुरुक रोजा नीमाज गुजारै, बिसमिल बॉग पुकारै।
इनकी भिस्त कहां ते होइ है, सांझै मुरगी मारैं।
हिन्दू की दया मेहर तुरुकन की, दोनों घटसों त्यागी।
वे हलाल वें झटके मारै, आगि दुनौ घर लागी।
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतों, राम न कहेऊ खुदाई।। (बीजक, सबद 10)

उन्होंने दोनों हिन्दुओं और मुसलमानों को फट्कारते हुए कहा कि ये दोनों धर्म अधूरे और अपूर्ण हैं। पूर्णता चाहते हो तो उस धरातल तक उठो, जिस पर कबीर का निवास है।

सुर, नर, मुनि औ औलिया, ये सब बेलैं तीर।
अलह- राम की गति नहीं, तह घर किया कबीर।। (संस्कृति के चार अध्याय से उद्‌धृत)।

दिनकर ने ठीक ही लिखा : उनकी (कबीर की) बड़ाई केवल इसी बात के लिए नहीं है कि उन्होंने साहसपूर्वक, हिन्दुओं और मुसलमानों की आँखों में उंगली डालकर उन्हें यह समझाया कि मन्दिर और मस्जिद के सवाल पर झगड़ने से बढ़कर मूर्खता का कोई और काम नहीं हो सकता, अपितु इसलिए भी कि संस्कृत के विरुद्ध उन्होंने भारत

---

43 रामधारी सिह दिनकर - सस्कृति के चार अध्याय, पृ० 278

में नवीन भाषा की पताका फहरायी और संस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने निम्न-वर्ग के लोगों के हाथों में पहुँचा दिया। कबीर की परम्परा में जो अनेक संत और महात्मा जम्मे उनमें नानक, रैदास, धन्ना, सुन्दरदास, दादूदयाल, रज्जब, मलूकदास और धरणीदास के नाम अत्यन्त विख्यात हैं और इनमें से कोई भी संत ब्राह्मण-वंश में नहीं जनमा था। स्वयं कबीर दास जी हिन्दू या मुस्लिम वर्ग के जुलाहे थे।[44] कबीर के युग में परस्पर दो धर्मों-संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का संघर्ष था। कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करके एवं पारस्परिक विरोध को समाप्त करके उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण सापेक्ष नहीं निरपेक्ष था। इसलिए उन्होंने अपने युग की गलत विचारधाराओं की निःसंकोच आलोचना की तथा निर्भय होकर निराकार ब्रह्म की उपासना की, जिसमें किसी भी सांचे में ढले हुए धर्म, जाति अथवा सम्प्रदाय का साझा नहीं है।[45] वस्तुतः साम्प्रदायिकता का मूल उन्होंने हिन्दुओं के मंदिर और मुसलमानों के मस्जिद में देखा। उन्होंने दोनों को समाप्त कर ईश्वर भजन की एक विधि बताई तथा मन्दिर और मस्जिद की खुलेआम निन्दा की:[46]

पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़।
याते तो चक्की भली, पीस खाय संसार।।
× × ×
कांकर पत्थर जोरिकै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दै, बहरा हुआ खुदाय।।

उन्होंने दोनों ही सम्प्रदायों में व्याप्त बाह्याचार को भ्रम बताया जिससे भेद-विभेद की खाई उत्पन्न हो जाती है, समाज में कलह, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या का बोलबाला हो जाता है। उनकी नजर में धर्म तथा सम्प्रदाय का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-समाज से था।

---

44 रामधारी सिंह दिनकर- सस्कृति के चार अध्याय, पृ० 279-80

45 डॉ0 झारखण्डे चौबे एवं डॉ0 कन्हैया लाल श्रीवास्तव-मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ० 346-347

46 डॉ0 झारखण्डे चौबे एवं डॉ0 कन्हैया लाल श्रीवास्तव- मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृष्ठ- 350

मानव-धर्म का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जो कुछ कल्याणकारी मिला उसे ग्रहण किया और शेष को अस्वीकार किये।[47] ईश्वर का बास तो घट में ही है उसे वहीं खोजना चाहिए। मंदिर या मस्जिद में नहीं। अल्लाह और राम का सेवक कबीर बाह्याचार का खण्डन करते हुए कहता है कि नमाज के समय जमीन में झुककर सिर लगाने (सिज्दः करने) या मंदिर में देवता के सामने पृथ्वी पर माथा टेकने से क्या लाभ? पवित्रता की दृष्टि से शरीर को जल से स्वच्छ करने से भी क्या लाभ? हिन्दू-मुस्लिम दोनों मतावलम्बी अपने पाप छिपाने के लिए धर्म के नाम पर जीव-हत्या करते हैं और ऐसा करके भी अपने को० 'दीन' बतलाते हैं। वजू करने से, जप से और तीर्थादि में स्नान करने से क्या लाभ? मस्जिद में सिर झुकाने से भी क्या लाभ हो सकता है? हृदय में कपट भरा रहता है और प्रभु के लिए नमाज पढ़ता है। ऐसी नमाज से क्या लाभ? और हज के लिए कावा जाने से भी क्या लाभ हो सकता है? ब्राह्मण (हिन्दू) वर्ष भर में चौबीसों एकादशी का व्रत रखते हैं और काजी (मुसलमान) रमजान के महीने में रोजा रखते हैं। कबीर पूछते हैं कि वर्ष के ग्यारह महीने कोई व्रत क्यों नहीं रखते? क्या पूरा वर्ष एक ही महीने में सिमट कर आ जाता है? यदि ईश्वर का वास केवल मस्जिद में है तो क्या अन्य स्थान प्रभु से रिक्त है? प्रभु का वास तीर्थों और मूर्तियों में माना जाता है। लेकिन इन दोनों स्थानों में प्रभु को कोई नहीं खोज सका है। हिन्दू ईश्वर को पूर्व दिशा की ओर विद्यमान मानकर पूजा करते हैं और मुसलमान अल्लाह को पश्चिम की ओर विद्यमान समझकर नमाज पढ़ते हैं। कबीर कहते है कि दोनों भ्रम में हैं। वास्तव में प्रभु का वास मंदिर-मस्जिद, पूर्व-पश्चिम कहीं नहीं है। वह घट-घट वासी है। उसे वही खोजो। राम-रहीम वहीं मिलेंगे। संसार में जितने नर-नारी उत्पन्न हुए हैं, वे सभी आपके ही रूप हैं। कबीर अल्लाह और राम दोनों का ही बच्चा है और वही कबीर का पीर भी है और गुरु भी :

---

47. डॉ0 झारखण्डे चौबे एवं डॉ0 कन्हैया लाल श्रीवास्तव- मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृ० 35।

अल्लह राम जिऊँ तेरै नांई।
बंदे ऊपरि मिहरि करौ मेरे सांई।।
क्या लै मूड़ी भुइं सौं मारे, क्या जालदेह न्हवाएं।
खून करे मिसकीन कहावै, अवगुन रहै छिपाए।
क्या ऊजू जप मंजन कीए, क्या मसीति सिरू नाएं।
दिल महिं कपट निवाज गुजारै, क्या हज काबै जाएं।
बाम्हन ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी मांह रमजाना।
ग्यारह मास कहौ क्यूं खाली, एकहि मांहि नियांना।
जौ रे खुदाइ मसीति बसतु है, और मुलुक किस केरा।
तीरथि मूरति राम निवासी, दुहुमहिं किनहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी का वासा, पच्छिम अलह मुकांमा।
दिलमहिं खोजि, दिलै दिलि खोजहु इहंई रहीमा रामां।
जेते औरति मरद उपानें, सो सभ रूप तुम्हारा।
कबीर पुंगरा अलह राम का, सोइ गुर पीर हमारा।।[48]

कबीर के जैसा निर्भीक स्वर उसके पूर्ववर्ती किसी भी विचारक, कवि अथवा सुधारक का नहीं था। उनकी निगाह में वह धर्म ही क्या है जो मानव-मानव के बीच वैमनस्य की दीवार खड़ी कर दे। कबीरदास शुद्ध मानवता का पूजक था। वह जनजीवन में व्याप्त गन्दगी को निकाल फेंकने के लिए व्याकुल था तथा समाज के उपेक्षित वर्ग को सहारा देकर ऊपर उठाना चाहता था।[49] उन्होंने समाज की धार्मिक दृष्टि का परिशोधन कर सहिष्णुता की भावना वो पुनर्जीवित किया। उन्होंने साम्प्रदायिकता के उस विषधर सर्प के एक-एक फन पर नाच कर उसे शक्तिहीन कर दिया। उन्होंने घूम-घूमकर यही उपदेश दिया कि हिन्दुओं के राम तथा मुसलमानों के खुदा सब एक ही परमतत्त्व के भिन्न-भिन्न नाम हैं। उनकी शिष्य-परम्परा में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी दीक्षित होने लगे और उनके शिष्यों ने कबीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मुक्तकंठ से प्रचार किया।[50] अकबर के दीन-इलाही का उद्घोष तथा राज्य द्वारा सभी प्रजा के लिए एक

---

48. डॉ0 जयदेव सिह एवं डॉ0 वासुदेव सिंह - कबीर वाड़्मय . खण्ड-2 : सबद, सख्या 23, पृ0 28-29
49. डॉ0 हरिवंश तरुण - भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0 67
50. डॉ0 झाखण्डे चौबे एवं डॉ0 कन्हैयालाल श्रीवास्तव- मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं सस्कृति, पृ0 353

धर्म की मान्यता अप्रत्यक्ष रूप से कबीर की ही देन है।[51] दिनकर ने लिखा है- ''हिन्दू-मुस्लिम समस्या का समाधान उन्हें बहुत ठीक दिखायी पड़ा था। कबीर को गुजरे अब लगभग पांच सौ (सम्प्रति 600) साल हो गये हैं, लेकिन आज भी उनकी प्रासंगिकता बनी हुई है।'' स्पष्ट है कि महात्मा कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के माध्यम से सामाजिक एवं राष्ट्रीय-एकता का निर्भीक शंख फूंका।[52] कबीर के विचार इतने क्रान्तिकारी व उदार थे कि हिन्दू-मुसलमानों, दोनों ही ने उन्हें अपना समझा।[53] वे अपने को न हिन्दू मानते थे न मुसलमान, अपितु अपने को परमात्मा की संतान, मनुष्य-मात्र मानते थे। प्रो0 मालती तिवारी के अनुसार ''कबीर की विचारधारा का विकास विशिष्ट सामाजिक-धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरन्तर स्वतंत्र गति से हुआ था। उनके जीवन का लक्ष्य ही मानव-निर्मित भेदभावों की उपेक्षा और मानव-एकता का प्रयास था। आगे वे लिखती हैं ''भक्तिकाल की कुण्ठित दबी हुई मनोवृत्ति को सम्भवतः पहली बार कबीर ने सबसे पहले प्रबल रूप में उद्घाटित किया। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के प्रति कबीर की वाणी में प्रबल इच्छा व्यक्त हुई है। इस वाणी के माध्यम से हमें तत्कालीन यथार्थ का जीवंत परिचय प्राप्त होता है। मुल्ला और पुराहितों द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों के भयानक विमर्श से समाज को बचाने के लिए कबीर ने अत्यन्त सरल, सर्व-ग्राह्य एवं लोकप्रिय सहजमार्ग समाज को दिखाया। समय की सीमा का अतिक्रमण करके सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्ति एक लम्बे अर्से तक उस मार्ग पर चलती रही।''[54] कबीर का विद्रोह केवल हिन्दू-समाज तक ही नहीं था। कबीर ने पीर, औलिया, मुल्ला और पंडित के कथनी और करनी के द्वैत को उजागर करके जनता को उनसे बचने का आग्रह किया। उन्होंने योगी, सिद्ध, यती, मुंनि और जटाधर आदि साधुओं से भी बचने का संकेत किया है। धर्म और समाज को पीछे ले जाने वाली शक्तियों पर जितना प्रभावशाली प्रहार कबीर ने किया उतना सम्भवतः अन्य किसी कवि-साधक ने नहीं किया।[55] कबीर की उपलब्धियों का सच्चा मूल्यांकन करते हुए

---

51. डॉ0 ताराचन्द- इन फ्लुयेन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ०165
52 हरिवश तरुण- भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ०68
53. प्रो0 राधेश्याम- मध्यकालीन प्रशासन समाज एवं सस्कृति, पृ० 236
54 डॉ0 मालती तिवारी- (कबीर-सग्रह) प्रस्तुत सकलन, पृ०7
55 डॉ0 मालती तिवारी- (कबीर-सग्रह) प्रस्तुत सकलन, पृ०9

डॉ० झारखण्डे चौबे एवं डॉ० कन्हैयालाल श्रीवास्तव लिखते हैं - कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य की पृष्ठभूमि प्रदान करके महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू का पथ-प्रदर्शन किया, जिन्होंने भारत की नैया का खिवैया बनकर देश को साम्प्रदायिकता की विभीषिका से बचाया।[56]

जिस समय नानक ने अपना संदेश जनता तक पहुँचाने का निश्चय किया उस समय सर्वत्र आतंक व्याप्त था। ऐसा कोई नेता न था जो राष्ट्र की समस्त बिखरी शक्तियों को एक सूत्र में पिरोकर अत्याचार का सामना कर सके। यों तो उनके धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों की पृष्ठभूमि रामानन्द तथा कबीर ने पहले ही तैयार कर दी थी। यद्यपि मध्ययुग में भारत में अनेक धर्म-सुधारक हुए पर उन्हें वह सफुलता नहीं मिली जो गुरुनानक को मिली। यह सुधार गुरुनानक के लिए अवशिष्ट था। उन्होंने व्यक्तिगत आधार पर अपने सच्चे सिद्धान्तों का सूक्ष्मता से साक्षात्कार किया और ऐसे व्यापक सुधार पर अपने धर्म की नींव डाली जिसके द्वारा गुरु गोविन्द सिंह ने अपने देशवासियों का मस्तिष्क नवीन राष्ट्रीयता से उत्तेजित कर दिया और उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया। छोटी-बड़ी जाति तथा उनके धर्म समान हैं। इस प्रकार राजनीतिक सुविधाओं की प्राप्ति में सभी की समानता है।[57]

नानक ने कटु आलोचना की बजाय प्रेम और सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में दोनों सम्प्रदायों को समझाने का प्रयास किया। मुसलमानों के अस्तित्व को पूर्ण रूप से समाप्त करना असम्भव था। अतः उनको एक रंगमंच पर लाकर सामंजस्य का मार्ग दिखाया। साथ ही पद-दलित वर्ग को हिन्दू-समाज में समानता का स्थान देकर उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने से रोका। डॉ० एस० राधाकृष्णन का यह कथन कि प्रत्येक मौलिक धर्म-संस्थापक अपनी व्यक्तिगत, समाजगत प्रथा ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप ही अपना धार्मिक सन्देश देता है, गुरु नानक द्वारा स्थापित धर्म पर अक्षरशः

56 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति- पृ० 354

57. जे0डी0 कनिघम- हिस्ट्री ऑफ दि सिख, पृ० 39

सत्य पाते हैं। गुरु नानक के समय में राजनीतिक एवं सामाजिक संकीर्णता तथा अत्याचारों और अनाचारों का मूल कारण धार्मिक संकीर्णता थी। इस साम्प्रदायिकता का सजीव चित्रण नानक ने किया है- "अरे लालों, लज्जा एवं धर्म दोनों ही संसार से बिदा हो चुके हैं, चारों ओर झूठ का साम्राज्य है। काजियों और ब्राह्मणों ने अपने कर्तव्य त्याग दिये हैं और अब विवाह शैतान करवाता है। मुसलमान, हिन्दू तथा अन्य ऊँच-नीच स्त्रियाँ कष्ट में पड़कर परमात्मा का नाम ले रही हैं। वे सब खूनी गीत गा रहीं हैं और केशर के स्थान पर रक्त पड़ रहा है।"[58] मुसलमानों को भयवशात् हिन्दुओं द्वारा प्रसन्न करने के पाखण्डों पर नानक कहते हैं कि समृद्धशाली हिन्दुओं, एक ओर तो मुसलमानों का शासन सुदृढ़ बनाने के लिए गौओं और ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और दूसरी ओर गौ के गोबर के बल पर मुक्ति पाना चाहते हो। भला यह कैसे सम्भव हो सकता है? धोती पहनते हो, टीका लगाते हो, गले में जप की माला धारण किये हो, किन्तु धान्य तो म्लेच्छों का ही खाते हो। भीतर-भीतर पूजा करते हो, बाहर कुरान पढ़ते हो और सारे आचरण तुर्कों के समान करते तो हो, इस पाखण्ड को छोड़ो, इसमें कोई लाभ नहीं:

> गऊ बिशहमण कऊ करू लावहु गोबर तरणु न जाई।
> धोती टीका तै जपमाली धानुमलेछां खाई।।
> अंतरि पूजा पढ़हिं कतेबा संजमु तुरका भाई।
> छोड़ी ले पाखण्ड।- (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसा दी वार महला 1, पृ0- 471)

धर्म प्रदर्शन-मात्र बन गया था जिसका जिक्र अनेकशः नानक ने किया है। पुस्तक पढ़ तथा सन्ध्या करके वे सन्ध्या के वास्तविक रहस्य को ही नहीं समझते। पाषाण की पूजा करते हैं और बगुले की भाँति झूठी समाधि लगाते हैं। सच्ची समाधि के आनन्द से बहुत दूर हैं। दिखावा-मात्र करके समाधि का दम्भ भरते हैं। मुख से झूठ बोलकर लोहे के गहने को सोने का बतलाते है। यथा-

> पढ़िपुस्तक सन्धिया वादं।
> सिल पूजसि बगुल समाधं।।

---

58 श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, तिलग, महला 1, पृ० 722-23

मुख झूठि विभूषणं सारं।

- (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, आसादी बार महला 1, पृ0- 470)

हिन्दुओं की दशा पर नानक ने कहा कि इनमें सन्यासियों के दस सम्प्रदाय हैं और योगियों के बारह पंथ। जगम और दिगम्बर आदि परस्पर कलह करते हैं। ब्राह्मणों में अनेक वर्ग हैं। शास्त्रों, वेदों और पुराणों में परस्पर संघर्ष चल रहा है। तंत्र, मंत्र, रसायन और करामात का बोलबाला है। इस प्रकार सभी तमोगुण में बिरत हैं।[59] मुसलमानों द्वारा बलात् धर्म-परिवर्तन एवं हिन्दुओं की मानसिक कमजोरी के कारण हिन्दुओं में बाह्याचार बढ़ गया था। मुसलमानों में भी अनेक वेश चल पड़े हैं। कोई पीर है, कोई पैगम्बर तथा कोई औलिया। ठाकुरद्वारों को गिराकर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया गया। गऊ तथा गरीबों की हत्या करते हैं। इस भॉति पृथ्वी के ऊपर पाप का बिस्तार हो रहा है।[60] चिश्तीसिलसिला के संतों तथा कबीर की भॉति नानक का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम-सम्प्रदायों में समन्वय की स्थापना था।[61] उन्होंने अनुभव किया कि समाज के घाव भरने के लिए धार्मिक मतभेद को दूर करना आवश्यक है। उनके अनुसार हिन्दू तथा इस्लाम धर्म एकेश्वर तक पहुंचने के दो मार्ग हैं। अतः ईश्वर को राम, गोबिन्द, हरी, मुरारी, रब तथा रहीम के नाम से पुकारते थे। उन्होनें अपना सम्पूर्ण जीवन हिन्दू-मुस्लिम समन्वय तथा एकेश्वर के सिद्धान्त के प्रतिपादन में व्यतीत किया। बिना जाति तथा साम्प्रदायिक भेदभाव के हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें एक साथ भोजन करने पर जोर दिया। डॉ0 ताराचन्द लिखते हैं कि नानक के अनुसार उस एकेश्वर की आराधना अनेक मुहम्मद, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा राम करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम संत परवर दीगार के दीवान हैं।[62] नानक का तो मानना हैः

---

59 डॉ0 जयराम मिश्र - श्री गुरु ग्रथ दर्शन, पृ० 49

60 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव संस्कृति से उद्धृत-वाश भाई गुरु दास जी, वार 1, पौडी 20), पृ०359

61 ताराचन्द, पृ० 251

62 ताराचन्द, पृ० 169-171

''पारब्रह्म प्रभु एक है, दूजा नहीं कोई।

- (श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, महला, 5, पृ0- 45 )

इस प्रकार नानक का मूल उद्देश्य दोनों धर्मों, सम्प्रदायों तथा संस्कृतियों के संघर्ष को समाप्त कर देश में शान्ति की स्थापना करना था। वे हिन्दू-मुस्लिम पारस्परिक विरोध को समाप्त कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। नानक जानते थे कि हिन्दू-मुसलमानों के मनोमालिन्य को दूर करने के लिए सहज मार्ग यही है कि उन दोनों की आन्तरिक अच्छाइयों को ग्रहण करके उनके बाह्याडम्बर को दूर करने की चेष्टा की जाय। कदाचित् पंजाब में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष सबसे अधिक था। इसीलिए उन्होंने जहाँ एक ओर सच्चे मुसलमान बनने की विधि बताई, वहीं दूसरी ओर यह बताया कि सच्चा ब्राह्मण कौन है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट कह दिया, जो व्यक्ति हिन्दू-मुसलमान दोनों धर्मों की एकता को समझता है, वही मर्मज्ञ है।[63] कबीर की डांट-फट्कार की शैली की अपेक्षा नानक की प्रेमपूर्ण मधुरशैली दोनों सम्प्रदायों को समझाने में जादा कारगर सिद्ध हुई। उनके अथक प्रयास का ही परिणाम था कि हिन्दू तथा मुसलमानों ने उनके उपदेश को समझकर उसे कार्यान्वित किया। नानक की यह सबसे बड़ी सफलता है।[64] वस्तुतः वे मानवतावादी थे तथा किसी धर्म को बुरा नहीं मानते थे अपितु तद्व्याप्त बुराइयों की उन्होंने आलोचना की। 'मनुष्यभक्षक (मुसलमान) नमाज पढ़ते हैं और जुल्म की छुरी चलाने वाले (हिन्दू) जनेऊ धारण करते हैं-

मासण खाणे करहिं निवाज।<br>
खुरी बगाइन ति गलि ताग।।<br>
(श्री गुरु ग्रंथ साहिब, महला 1, पृ0- 471)

नानक बाबर के आक्रमण और भारतवर्ष की दुर्दशा से अत्यन्त द्रवित हुए। मुस्लिम-शासन की स्थापना के बाद हिन्दू-समाज में घोर निराशा का वातावरण था। गुरुनानक ने जनता की निराशावादिता को दूर कर उसमें आशा, विश्वास तथा पौरुष

---

63 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृ० 366-367

64 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव संस्कृति, पृ० 367

की भावना को जागृत किया। गुरुनानक मध्ययुगीन राष्ट्रीय नेता हैं जो भारत-वर्ष की दुर्दशा से द्रवीभूत होकर अपने आराध्य देव से यह प्रश्न करने का साहस किया-[65]

'खुरासान खसमाना कीआ, हिन्दुस्तान डराइआ।
ऐती मार पई करलाणे, तैं की दरद न आइआ।।
(श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, रागु आसा, महला 1, पृ0- 360)

गुरुनानक की शिक्षाओं का ही प्रभाव था कि उनके अनुयायियों ने राष्ट्र के निर्माण तथा राष्ट्र सेवा में अनुपम योगदान दिया।[66]

वास्तव में आज भी राष्ट्रीय एकता के सामने मुहवाये खड़ी अनेक प्रमुख समस्याओं में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या सबसे भयानक समस्या है। साम्प्रदायिकता आज भी हमारी एकता को सबसे बड़ी चुनौती है। इसीलिए संतों ने एकता पर बल दिया और धर्म को बड़ी व्यापक दृष्टि से देखा। यह हिन्दू धर्म है, यह इस्लाम है, यह मसीह का धर्म है तथा ऐसी ही अन्य बातों से इनको चिढ़ थी। धर्म तो एक है। इसे जाति या संप्रदाय विशेषों के अनुसार खंडशः नहीं किया जा सकता और जो खण्डशः किया जा सकता है वह धर्म नहीं, तथाकथित धर्म के नाम पर लड़ने का बहाना मात्र है।[67] वास्तव में संतों का धर्म मनुष्यमात्र का साधारण धर्म था। दूसरे शब्दों में जिसको विश्वधर्म, या 'कास्मापालिटन रेलिजन' कहते हैं, इसके वास्तविक सिद्धान्त का बीजारोपण सबसे पहले इन्हीं महात्माओं ने किया था।[68] दादू जी का मानना है कि एकता की भावना आने पर नर-नारी हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं रह जाता। एक ही आत्मा सभी में है, हिन्दू या मुसलमान ही क्यों न हो। स्वामी सभी का एक ही है।

हिन्दू तुरुक न जानौ दोई।
साईं सबनि का सांई है रे, और न दूजा देखौं कोई।।
(संत सुधासार-प्रथम खण्ड, पृ० 445)।

---

65 मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं सस्कृति, पृ० 370

66 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति पृ० 372

67 गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य - सग्रह (भूमिका), पृ045

68 गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य - सग्रह (भूमिका), पृ045

दादू ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मूसलमान।
षट् दर्शन में हम नहीं, हम राते रहिमान।।
हिन्दू लागे देहुरा, मुसलमान मसीति।
हम लागे इक अलख सो, सदा निरन्तर प्रीति।
दोनों भाई हाथ पर, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन है, हिन्दू मूसलमान।।[69]

उन्होंने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त को सारयुक्त बताया है। दादू : प्रेम ही भगवान् की जाति है, प्रेम ही भगवान् की देह है। प्रेम ही भगवान् की सत्ता है। प्रेम ही भगवान् का रंग है। विरह का मार्ग खोजकर प्रेम का रास्ता पकड़ो, लौ के रास्ता जाओ, दूसरे रास्ते पर पैर न रखनाः

इश्क अलह की जाति है, इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह मौजूद है, इश्क अलह का रंग।।
बाट बिरह की सोधिकरि, पंथ प्रेम का लेहु।
लवके मारग जाइये, दूसर पाँव न देहु।।

ताराचन्द : दादू सूफी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का प्रबल समर्थन किया। उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया। सुन्दरदास भी मानते है कि धर्मावलम्बियों का जन्म किसी भी चिह्न से रहित हुआ है। हिन्दुओं और मुसलमानों में निरर्थक भ्रमों का उदय हो गया है। अतएव वह उन भागों को त्याज्य मानकर अलग हो गये। हिन्दुओं की सीमा तथा मुसलमानों का रास्ता त्यागकर स्वाभाविक रीति से ईश्वर की पहचान कर ली हैः

"चिन्ह बिना सब कोई आये। इहां भये दोइ पंथ चलाए।
हिन्दू तुरक उठायो यह भर्मा। हा दोऊ का छड्या धर्मा।।
हिन्दू की हदि छाड़िकै, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीह्नियाँ, एकै राम अलाह।।"[70]

69 सस्कृति के चार अध्याय, पृ० 280 ( से उद्धृत)

70 संत सुधाकर खण्ड 1, पृ० 597

मलूकदास ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात कही और सबका 'ठौर' 'ईमान' बताया जो दिल में खोजने पर मिलता है।

सबकोऊ साहब बन्दते, हिन्दू-मुसलमान।
साहेब तिसको बन्दता जिसका ठौर इमान।।
× × × ×
तौजी और नमाज न जानूँ, ना जानूं धरि रोजा।
बाँग जिकिर तबही से बिसरी जबसे यह दिल खोजा।।
कहै मलूक अब कजा न करिहौ, दिल ही सों दिल लाया।
मक्का-हज्ज हिये में देखा, पूरा मुरसिद पाया।।[71]

इन (मलूकदास) का विश्वास एकेश्वरवाद में था। उनकी दृष्टि में राम, रहीम, अल्लाह में कोई अन्तर नहीं है। मलूकदास जी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के समर्थक थे।[72]

दादू के प्रमुख शिष्य रज्जबजी का मानना है कि ईश्वर का स्थान मनुष्य की आत्मा है। मनुष्य का जीवन मन्दिर तथा मस्जिद है। इसी में ईश्वर की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। उन्होंने पण्डितों तथा मुल्लाओं की कटुआलोचना की।[73] इसलिए उन्होंने 'हिन्दू तुरक' से ऊपर उठकर 'सिरजनहार' का स्मरण करने की बात कही।

हेत न कर हिन्दू धर्म, तजि तुरकी रसरीति।
रज्जब जिन पैदा किया, ताही सूँ करि प्रीति।
रज्जब हिन्दू-तुरक तजि, सुमिरहु सिरजनहार।
पखापखी सूँ प्रीति करि, कौन पहुँचा पार।।[74]

पलटू साहब तो सतर्क पूछते हैं कि हे ब्राह्मण तुम स्वयं तो जनेऊ पहनकर ब्राह्मण बनकर बैठे हो लेकिन तुम्हारी पत्नी के गले में कोई जनेऊ नहीं है। इसी प्रकार शेख को फटकारते हैं कि तुमने तो सुन्नत करवाकर मुसलमान होने का दमभर लिया, परन्तु तुम्हारी पत्नी आधी हिन्दू ही रही, क्योंकि उसकी सुन्नत असम्भव है। अब सच्ची

---

71 संस्कृति के चार अध्याय (से उद्धृत), पृ० 281

72 ताराचन्द- पृ०190

73 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृ० 404

74 सस्कृति के चार अध्याय (से उद्धृत), पृ० 281

स्थिति यही है तो भेदभाव का ढोंग रचने से क्या लाभ।[75] मूर्तिपूजा एवं कबर (समाधि) पूजा का खण्डन करते हुए दोनों को एक होने की बात करते हैं। मुर्दा जलाना या गाड़ना ये तो बाहरी कृत्रिम भेद हैं। वस्तुतः दोनों एक हैं, कोई भेद नहीं। पूर्व-पश्चिम का भेद गलत है। यह मानने वाले हिन्दू और मुसलमान 'दोऊ बेकूफ है खाक टारै'। पलटू साहब कहते हैं :

मूरत औ कबर न बोले, न खाय कछु,
हिन्दू औ तुरुक, तुम कहा पाया?
दास पलटू कहै, पाया तिन्ह आपमें,
मूए बैल ने कब घास खाया?[76]

पलटू साहब उसे ही पूजते हैं जो आँखों के सम्मुख ही खा ले। हिन्दुओं की पत्थर पूजा और मुसलमानों का दरगाहों पर जाकर सिर झुकाना मूर्तिपूजा से कम नहीं था। वे उसका विरोध करते हुए कहते हैं-

"हिन्दू पूजे देवखरा, मुसलमान महजीद।
पलटू पूजे बोलता, जो खाय दीद दरदीद।।[77]

वास्तव में संत इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर खदेड़े जा सकते हैं और न धर्म-परिवर्तन एवं हत्या से हिन्दुओं की इतिश्री की जा सकती है। इसलिए उस समय की स्पष्ट माँग थी कि हिन्दू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहें। दूरदर्शी विरक्त महात्माओं ने जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि-लाभ, सुख-दुख हर्ष-विषाद से परे जा सकती थी, जांति-भेद को दूर करने की आवश्यकता का सबसे अधिक अनुभव किया।[78]

---

75 सत सुधाकर, खण्ड-2, पृ० 243

76 सस्कृति के चार अध्याय (से उद्धृत), पृ० 281

77 पलटू साहब की बानी, भाग 3, पृ० 80

78 डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल-हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० 71

इस प्रकार इन संत-कवियों ने तीर्थ, मूर्ति, व्रत, वजू, नमाज, रोजा, अवतार, स्वर्ग-नर्क, बैकुण्ठ, हज, वेश, यती-जटी, साधु-सन्यासी, शाक्त-वैष्णव-द्वन्द्व, शास्त्र आदि सभी बाह्याचारों का विरोध किया तथा आचरण की पवित्रता और मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ मानवधर्म का प्रतिपादन किया। वे मनुष्य-मात्र की एकता, भाईचारा एवं पारस्परिक सौहार्द की स्थापना करना चाहते थे ताकि राष्ट्र प्रगति करे और मिथ्या धर्म व सम्प्रदाय के नाम पर खून-खराबा न हो, लोग शान्तिपूर्वक बहुमूल्य मानव जीवन का उपयोग मानवता के हित में सत्कर्म करते हुए, कर सकें। अन्तःकरण की पवित्रता एवं आचरण की सात्त्विकता पर उनका सर्वाधिक जोर था। सब कुछ अन्तस में उपस्थित है- 'दिल मैं खोज दिलहि दिल खोजौ, यहीं रहीमा रामां'। चरणदास कहते हैं– लोगों मन के अन्दर ही तीर्थ है तो बाहर भटकना व्यर्थ है। वृत्तियों के अन्तर्मन पर बल देते हुए कहते हैं-

अरसठ तीरथ ताहि विषे, बाहर क्यों भरमाय।
चरनदास यों कहत है, उल्टा हो घर आय।।[79]

राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में सिखों के दशवें व अन्तिम गुरू गुरुगोबिन्द सिंह (1666-1708 ई0) के योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता है। वे एक संत थे जिन्हें परिस्थितियों ने योद्धा बना दिया; पर हृदय से वे हमेशा संत ही रहे। उन्होंने लड़ाइयाँ लड़ी और जीतीं, लेकिन कभी किसी की एक इंच जमीन पर भी कब्जा नहीं किया। उन्होंने भारतवासियों को राष्ट्रीयता के आदर्श का बोध कराया- वह आदर्श था जीवन के छोटे से छोटे काम में भी परमात्मा के प्रति पूर्णनिष्ठा और समर्पण का भाव रखते हुए सांसारिक कर्तव्यों और जिम्मेदारियों से मुंह न मोड़ना। वे धर्म-गुरु बने और ईश्वर की तरह पूजे गये, लेकिन व्यक्तिपूजा का जैसा कड़ा विरोध उन्होंने किया वैसा कभी किसी ने नहीं किया । यथा :[80]

---

79 चरनदास की बानी, भाग-2, पृ० 230

80 डॉ0 गोपाल सिंह- गुरु गोविन्द सिह, पृ०।

"जो मोको परमेश्वर उचर है, सो नर नरक कुंड में परहै।
मैं हूं परमपुरुष को दासा, देखन आयो जगत् तमासा।।"

वे शहीद के पुत्र थे और शहीद के परपौत्र। उन्होंने अपने को ही नहीं, अपने पुत्रों, माता और अपने आत्मीय कहने वाले सब लोगों को ईश्वर के चरणों में न्यौछावर कर दिया। उन्होंने उत्तराधिकार की परम्परा का खण्डन किया, और मानव इतिहास में पहली बार आध्यात्मिक और भौतिक अधिकार जनता को सौंप दिए, जिसको वे उसका वास्तविक उत्तराधिकारी मानते थे। आत्मा के विवेक को ही उन्होंने जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त माना। लौकिक कार्यों का उन्होंने आध्यात्मीकरण किया, और ऐहिक आशा-आकांक्षाओं को धार्मिक स्वीकृति दी। किसी सिद्धान्त या धर्म के लिए मर मिटने के आदर्श का प्रचार करके जीवन की एक नयी व्याख्या की। जांति-पांति, धर्म, सामाजिक स्थिति आदि के भेदभाव मिटाकर उन्होंने नीच से नीच को भी सबसे उच्च कहलाने वालों के समकक्ष बनाया। पुरुष को उन्होंने उसका खोया हुआ पौरुष लौटाया और नारी को उसका नारीत्व। एक धार्मिक अनुशासन की उन्होंने स्थापना की। इसके लिए उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। फिर भी धर्म के नाम पर न तो उन्होंने भिन्न मतों का निरादर किया और न मनुष्य को मनुष्य से अलग किया।[81] गुरु पर हिन्दुओं या मुसलमानों का पक्षपाती होने का अथवा दोनों के विरुद्ध होने का आरोप लगाना अनुचित है। यह सही है उन्हें पहाड़ी हिन्दू राजाओं और मुगलों से लड़ना पड़ा। परन्तु वे विभिन्न धार्मिक विश्वासों का विरोध करने के उद्देश्य से नहीं लड़े थे, बल्कि उन्होंने उसी समय शस्त्र, उठाया जब मानव आत्मा, उसकी जाति या बाह्य-रूप चाहें जो रहा हो, को आततायियों ने अपमानित किया और यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उनकी ओर से लड़ने वालों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी।[82] जिस व्यक्ति ने यह सीख दी थी कि

---

81 डॉ0 गोपाल सिह- गुरु गोविन्द सिह, पृ0।

82 डॉ0 गोपाल सिंह - गुरु गोविन्द सिंह, पृ0 56

मन्दिर और मस्जिद एक है, वह किसी वर्ग या समाज का शत्रु नहीं हो सकता था।[83] जिसने यह कहा था-

देहुरा मसीत सोई, पूजा ओ नमाज ओही,
मानस सबै एक, पै अनेक को प्रभाव है।।

उन्होंने मनुष्यमात्र को एक जाति का कहा तथा उसे सम्पूर्ण मानव बनने का उपदेश दिया 'मानस की जाति सबै एक पहचानबो'। राष्ट्र सारी जनता को मिलाकर ही बन सकता है। जाति-पांति, धर्म आदि के भेदभावों के कारण विच्छिन्न समुदायों से नहीं।[84] इस सम्बन्ध में औरंगजेब और गुरु के बीच का वार्तालाप जिसे दूतों के जरिये परस्पर प्रेषित किया गया, विचारणीय है। औरंगजेब का गुरु को संदेश : "हम दोनों का मजहब एक खुदा में यकीन रखता है। फिर हमारे बीच गलतफहमी क्यों हो? जो हुकूमत और बादशाहत अल्लाहताला ने मुझको बख्शी है उसके आगे सर झुकाने के सिवा आपके या दूसरे लोगों के पास और कोई चारा नहीं है। अगर आपको किसी तरह का कोई रंज है तो आप यहाॅ तशरीफ ले आयें और मुझसे मिलकर गलतफहमी को दूर करें, आपके साथ मैं वैसा ही सलूक करूँगा जैसा एक धर्मात्मा के साथ करना चाहिए । लेकिन मेरी हुकूमत को चुनौती न दें। नहीं तो आपसे फैसला करने के लिए मुझको खुद आना पड़ेगा।" गुरु ने इसका उत्तर यों दिया, "सम्पूर्ण प्रभुत्त्व-सम्पन्न तो यहाॅ केवल सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही है। शहंशाह और मैं तो केवल उसके अनुचर हैं। लेकिन आप यह नहीं मानते और हिन्दुओं पर अत्याचार करते हैं, और न्याय के बजाय उनके साथ अन्याय करते हैं और उनके धर्म को तथा उनको चोट पहुँचाते हैं। भगवान् ने मुझे एक ही उद्देश्य से भेजा है- धरती पर न्याय स्थापित करने के लिए। जब तक हमारे रास्ते अलग अलग हैं, हमारे बीच शांति कैसे रह सकती है।[85] वस्तुतः रास्ता एक ही हो सकता है– सभी के साथ न्याय का, सर्वधर्मसमभाव का, एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर में

---

83 डॉ0 गोपाल सिह - गुरु गोविन्द सिह, पृ० 58

84. डॉ0 गोपाल सिह - गुरु गोविन्द सिह, पृ० 52

85. गुरु गोविन्द सिह, पृ० 31

आस्था और विश्वास का, जो राष्ट्र में शान्ति एवं समृद्धि ला सकता है और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ कर सकता है। डॉ0 गोपाल सिंह ने ठीक ही कहा है- "इस प्रकार गुरु गोविन्द सिंह ने मनुष्य को सम्पूर्ण मनुष्य का अर्थ समझाया। स्वामी विवेकानन्द का भी यही मत था कि हिन्दू और मुसलमान को एक झंडे के नीचे इकट्ठा करके उन्हें एक ही ध्येय की पूर्ति में लगाना भारत के इतिहास में एक अद्वितीय घटना थी।"[86] हमारे इतिहास में गुरु गोविन्द सिंह ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई को पाटा था।

इस प्रकार देश में फैले हुए नानाविध मतमतान्तरों को इन संतों ने शुरू से ही सारे कलह, द्वेष की जड़ माना है। और देश से इसके समूल उच्छेदन में इन्होंने कोई बात उठा नहीं रक्खी।[87] सखेद कहना पड़ रहा है कि यह समस्या आज भी मौजूद है और भी विकराल रूप धारण कर चुकी है। ऐसे में संतों द्वारा सुझाये गये परम धर्म, मानवीय धर्म को पकड़े रहें, लेकन जैसा कि टैगोर ने कहा 'धर्मों' को छोड़ दें।

## 2. समतामूलक समाज : वर्ण-जाति-कुल एवं अन्य भेद-भावों का विरोध :

राष्ट्रीयता की पहली शर्त है समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना। संत-कवियों ने मानव को जात-पांत, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, धर्म-सम्प्रदाय आदि के भेदभावों से रहित होकर एक ऐसे समतामूलक मानवीय समाज के निर्माण का आह्वान किया जिसमें सारी विषमताएँ बिलुप्त हों। वास्तव में संतों का समकालीन समाज परस्पर विभक्त था। हिन्दू-समाज जात-पांत और भेदभाव की भावना से प्रभावित था। मध्यकाल के आरम्भ से ही सामाजिक बन्धुत्व की भावना संकीर्ण से संकीर्णतर होने लगी थी। हिन्दू-समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-चतुर्वर्णों का स्थान अब सैकड़ों जातियों, उपजातियों ने ले लिया और वे गोत्र के आधार पर भी कई वर्गों में विभक्त हो गये। पारस्परिक खान-पान

---

86. गुरु गोविन्द सिंह, पृ० 57
87 गणेश प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी सत-काव्य सग्रह, (भूमिका), पृ० 40

और सामाजिक सम्बन्धों में इतनी विषमताएं आ गयीं कि एक दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं रह गया। ब्राह्मण और क्षत्रियों का हिन्दू धर्म के सभी अलौकिक और योग्यतम तत्त्वों पर अधिकार था। शूद्र और वैश्य वर्ण-व्यवस्था में सबसे नीचे थे जिन्हें ईश्वरीय ज्ञान के योग्य नहीं समझा जाता था। एक अन्य श्रेणी अन्त्यजों की थी जिन्हें समाज में कोई स्थान नहीं प्राप्त था। ये किसी न किसी कारीगरी या पेशे के सदस्य होते थे। इनके आठ वर्ग थे, इनमें से मोची, टोकरी बनाने वाले, मछुआरे, शिकारी इत्यादि थे। नगर-सीमा में प्रवेश का अधिकार इनको न था और ये केवल सूचना देकर प्रवेश कर सकते थे। जो स्थान मजदूरों और कारीगरों को दिया जाता था, वह भी निन्दनीय था।[88] निम्नतम वर्ग में हादी, दोमा, चांडाल, बडहातू आदि आते थे, जिनको गंदा काम सौंपा गया था, जैसे गॉव-भर के मलमूत्र की सफाई। इस प्रकार इस व्यवस्था के निर्माता थे ब्राह्मण जिन्होंने अपने को सर्वोच्च स्थान दिया। मनु के शब्दों में ब्राह्मणों का अस्तित्व संसार में सबसे ऊँचा है। अलबरूनी के अनुसार- ''समाज पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। वेद-अध्ययन, धार्मिक पूजा, आराधना, यज्ञ अन्य लोगों के लिए वर्जित था। जब शूद्र तथा वैश्य ने वेद-अध्ययन तथा आराधना, यज्ञ का प्रयास किया तो समकालीन शासकों ने ब्राह्मणों के प्रभाव में आकर उनकी जिह्वा कटवा लिया।''[89] तुर्क-आक्रमण के समय वर्ण-व्यवस्था अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी थी। अलबरूनी हमें सूचित करता है कि केवल ब्राह्मण को मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार था। उच्चस्थान प्राप्त होने के अलावा ब्राह्मण को कर का भुगतान नहीं करना पड़ता था।[90] इस प्रकार भारत में जाति-व्यवस्था ने समाज को खोखला और आधारहीन बना दिया था। छूआछूत की भावना के कारण समाज की दशा और भी शोचनीय हो गयी। अलबरूनी के अनुसार अगर कोई हिन्दू, मुसलमानों का कैदी बन जाता था, तो हिन्दू-समाज उसे वापस नहीं लेता था। हिन्दू नहीं चाहते थे कि किसी अपवित्र को फिर

---

88. हरिश्चन्द्र वर्मा (स0)- मध्यकालीन भारत, पृ0 134

89 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव संस्कृति से उद्धृत अलबरूनी का भारत, खण्ड-2, पृ0 137-38

90 हरिश्चन्द्र वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ0 133

से पवित्र किया जाए। एक तरह से जाति-व्यवस्था ने भाई चारे और एकता की भावना समाप्त कर दी थी। इसके विरूद्ध मुसलमानों में जातिगत एकता थी जिसके द्वारा तुर्क शासकों ने राजपूतों की जातिव्यवस्था को कठोर आघात पहुँचाया।[91] वर्ण तथा जाति-व्यवस्था के कारण भारतीय समाज कई वर्गों में बँटा था। आरम्भ में इस्लाम के प्रति उच्च वर्ग की प्रतिक्रिया बड़ी नकारात्मक थी। उन्होंने अपने कर्मकाण्डीय जाति-बन्धनों को और कठोर किया। दिनकर ने ठीक लिखा है कि इस्लाम भारत में केवल खड्ग के बल से नहीं फैला। हिन्दू-समाज में वेदविरोधी आन्दोलन इस्लाम के उदय से, कम से कम, एक हजार वर्ष पहले ही छिड़ चुका था और बहुत से लोग वेद, ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठों मे विश्वास खो चुके थे। धर्म परिवर्तन के अधिक आसान शिकार ये ही लोग हुए। इस्लाम ने बहुत से ऐसे लोगों को भी अपने वृत्त में खींच लिया जो अछूत होने के कारण अपमानित हो रहे थे।[92] इस प्रकार, हिन्दुओं ने जात-पांत और धर्म की रक्षा की कोशिश में जाति और देश को बर्बाद कर दिया। भारत वर्ष में राष्ट्रीयता की अनुभूति में जो अनेक बाधाएँ थी, उनमें सर्वप्रमुख बाँधा यही जातिवाद था। जिस गौरव की अनुभूति के लिए मनुष्य राष्ट्रीयता का वरण करता है, उस गौरव की तृषा इस देश में जात-पाँत की अनुभूति से ही शमित हो जाती थी।[93] जिन दिनों भक्ति और सूफी आन्दोलन का विकास हुआ, भारत का हिन्दू-समाज अनेक प्रकार की जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त था। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी एक प्रकार के अंधकार का समय था और अनेक प्रकार के कुसंस्कारों से देश पीड़ित था। बौद्धिक रूप में अद्वैतवाद में विश्वास करने वाले व्यावहारिक क्षेत्र में ऊँच-नीच, छूआ-छूत को सहसा ही स्वीकार कर लेते थे। आध्यात्मिक रूप में एक शक्ति को मानने वाले व्यावहारिक रूप में सैकड़ों देवताओं और मूर्तियों के पुजारी बन बैठे थे।[94] इसी बीच विदेश से एक

---

91 हरिश्चन्द्र वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ० 134

92. संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 265

93 सस्कृति के चार अध्याय, पृ0 267

94 हरिश्चन्द्र वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ०484

ऐसी शक्तिशाली धार्मिक संस्कृति का आक्रमण हुआ जो भारतीय संस्कृति को हर क्षेत्र में चुनौती दे रही थी। हिन्दुओं के आपसी मतभेद भी पहले से ही जटिल सामाजिक व्यवस्था को और अधिक उलझाते जा रहे थे। कबीर, गुरू नानक प्रभृति संतों ने समकालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का, तत्कालीन शासकीय निरकुंशता तथा सामान्य प्रजाजनों की असहाय अवस्था का अपनी वाणियों में चित्रण किया है। इस प्रकार इन संतों ने कठिन समय में भक्तिमार्ग को अपनाते हुए विषमताग्रस्त समाज में मानव की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत करने का कार्य किया। उनकी वाणी पंडितों को भले आन्दोलित न कर सकी, इतिहास साक्षी है कि उनके उद्देश्यों तथा प्रयत्नों से धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति के द्वार खुल गये। उन्होंने समाज को न केवल ईश्वर से परिचित कराया अपितु धार्मिक-आडम्बरों और सामाजिक-राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित जनता को नवचेतना भी प्रदान की।[95]

हिन्दुओं की जात-पांत की भावना का विष मुसलमानों को भी अभिभूत कर गया। उनके बीच भी शेख, सैयद, मुगल, पठान, सुन्नी, जुलाहा, दफाली, कुंजड़ा आदि जातियाँ उत्पन्न हो गयी। फिर तो आंतरिक वैमनस्य की आग में मुस्लिम समाज भी जलने लगा। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान-भेद तो रहा ही, एक धर्म के अनुयायियों के बीच भी सामाजिक विषमता का लज्जास्पद रूप देखने को मिलता रहा।

संतों ने युग की आवश्यकतानुसार वर्ण-विभाजन की कट्टरता, विवादपूर्ण धार्मिक-आडम्बरों एवं झूठे जातीय-अभिमान के विरूद्ध आवाज उठायी और स्नेह, सहयोग, सदाचरण, सहनशीलता और 'सादा जीवन उच्चविचार' के द्वारा एक प्राणवान समतामूलक समाज की स्थापना का उपदेश दिया। समाज में एकरूपता एवं समानता तभी निश्चित हो सकती है जबकि जाति, वर्ण और वर्गभेद न हो। संत-कवियों ने ऐसे सभी मनुष्य-निर्मित-भेदभावों का विरोध किया। जब सारा व्यक्त जगत् एक ही परम तत्त्व से उत्पन्न हुआ है तो जाति-पाँति, छुआ-छूत, ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शुद्र, हिन्दू-तुरूक,

---

95 हरिश्चन्द्र वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ० 484-85

शिया-शुन्नी, आदि मानवनिर्मित भेद मिथ्या हैं एवं अज्ञानता के परिचायक हैं। नामदेव ब्राह्मण और शूद्र के भेद को व्यर्थ सिद्ध करते हुए कहते हैं कि गायें भिन्न-भिन्न रंगों की होती हैं किन्तु उनका दूध समान रूप से एक ही रंग का (उज्ज्वल) होता है। अतः जात-पांत सब व्यर्थ है :

नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध।
तुम कहाॅ के ब्रह्मन हम कहाॅ के सूद।।[96]
× × × × ×
का करौ जाती का करौ पातीं,
राजाराम सेंऊ दिनराती।।

यही बात कबीर और तीखे स्वर में कहते हैं-

एक बूॅद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जाति थें सब उतपनां कौन बाह्मन कौन सूदा।।[97]

संतों ने समाज में भेदभाव को बढ़ावा देने वाले धर्म के ठेकदारों को खूब फटकारा । वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर, जो आज भी जाति और धर्म के नाम पर अपने को श्रेष्ठ समझते हैं अपने तर्कों के आधार पर उनके खोखलेपन की धज्जिया उड़ा दी है। कबीर ने पूछा कि यदि तुम ब्राह्मण की श्रेष्ठता का दावा करते हो तो यह गलत है क्योंकि जिस प्रक्रिया से अन्य गैर-ब्राह्मण जातियों के लोग उत्पन्न होते हैं, ठीक उसी प्रक्रिया से ब्राह्मण भी उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि तुर्क अन्य मनुष्यों से अलग होते तो माता के गर्भ में ही 'खतना' हो गया होता।

'जो तूं बाभन बंभनी जाया, तौ आन बाट होइ काहे न आया।
जो तूं तुरक तुरुकिनी जाया, तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया।।[98]

वस्तुतः मानव की उत्पत्ति एक समान होती है। किसी धर्म या जाति के चिह्नों को लेकर नहीं। सभी को माॅ के गर्भ में रहने के बाद ही जन्म मिलता है पवित्रता एवं

---

96 नामदेव की वाणी, पद 184, पृ- 87

97 कबीर ग्रन्थावली पद 57, पृ0 106

98 डॉ0 पारसनाथ तिवारी - कबीर ग्रन्थावली, पद - 182, पृ0 106

मलिनता भी एक समान होती है।[99] फिर ब्राह्मण और शूद्र का भेद कहाँ से आ गया और सच तो यह है कि जन्म से सभी शूद्र ही होते हैं संस्कार से ही द्विजता आती है- 'जन्मनः जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्चयते'। अतः संस्कारहीन (गुणहीन) व्यक्ति द्विज नहीं हो सकता। श्रेष्ठता का मानदण्ड कुल या वंश नहीं, अपितु उच्च करनी है, यदि ऐसा नहीं तो ऐसे कुलाभिमानी नीच व्यक्ति की सज्जन लोग सुरा से भरे सोने के कलस की भांति निन्दा करते हैं।

नानक ने यही समझाया कि जाति-पांति के बखेड़े में मत पड़ो क्योंकि पहले कोई जाति-पांति नहीं थी। मनुष्य मात्र में स्थित परमात्मा की 'जोति' (ज्योति) को समझने की चेष्टा करो।

'जाणहु जोति न पूछहु जाति अगै जाति न हे।' (रागु आसा, म0 1, स0 3)[100]

उन्होंने हिन्दु-मुसलमान दोनों के न केवल मजहबी भेदभाव को दूर करने की बात कही, अपितु दोनों धर्मों में व्याप्त जातीय भेदभाव की भी आलोचना करते हुए सामाजिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। योगी, नाथ-पंथी, भक्त, कर्मकाण्डी ब्राह्मण और मुसलमानों सभी में से उनके वास्तविक कर्तव्य का पालन करने वाले को श्रेष्ठ मानव घोषित किया-

'सो ब्राह्मण जो ब्रह्मु बीचारै।
आपि तरै सगलै कुल तारै।[101]

अर्थात् सच्चा ब्राह्मण वह है जो न केवल ब्रह्म का विचार करने वाला है, अपितु स्वयं एवं जनसमाज को भी पार पहुँचाने वाला है। मैनी लिखते हैं कि गुरुनानक ने न केवल अन्यान्य जातियों एवं वर्गों के व्यक्तियों (शेख फरीद, भीखन, कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, सधना आदि) की वाणियों को संग्रहीत किया, अपितु संकीर्णता के इन

---

99 डॉ0 पारसनाथ तिवारी - कबीर ग्रन्थावली खण्ड 1, पृ0 117

100. डॉ0 धर्मपाल मैनी-मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृष्ठ- 110

101 डॉ0 धर्मपाल मैनी- मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृ0110

बन्धनों को तोड़कर अपना संदेश मानव-मात्र के लिए प्रसारित किया।[102] मध्ययुगीन समाज को प्रभावित करने वाले संतों में कबीर और नानक का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। यों तो संतों की ओर से जाति-प्रथा को चुनौती बहुत पुराने जमाने से मिलती चली आ रही है। ऐसे संतों में सर्वप्रथम नाम महात्मा बुद्ध का है। असल में कबीर, नानक आदि उसी धारा के संत हैं जो बुद्ध के कमंडल से बही थी। किन्तु कई बार बंधन ढीले होने के बावजूद आज भी जातिप्रथा कायम है। कबीर ने मध्यकालीन विषम सामाजिक परिस्थितियों में इस प्रथा का डटकर विरोध किया और बिखरे हिन्दू-समाज को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कबीर की दृष्टि मानव की प्रगति विरोधी समाज व्यवस्था के इस तथ्य पर पहुँच गयी थी कि वहाँ बिचार के धरातल पर तो समानता का बोलबाल अक्सर किया जाता है पर आचार के धरातल पर उनमें भेदभाव है। अतः जीवनभर कबीर हिन्दू-समाज को समझाते रहे कि जन्म से सभी समान है।[103] वास्तव मे जिस मनुष्य ने सदाचरण से भक्ति को अपना लिया उससे जाति पूँछना उचित नहीं है।

> जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
> मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।[104]

तुम लोग अपने को ब्राह्मण कहते हो और कर्म अत्यन्त ओछे करते हो। भौतिक सुख सुविधाओं के लिए भूपतियों के आगे हाथ फैलाते हो। मैं भले जुलाहा हूँ और जुलाहे के धन्धे को करता हूँ पर सदाचरण से हीन नहीं; मेरा ध्यान राम में है। तुम मेरी जाति की हीनता पर तो सोचते हो पर मेरे ज्ञान को नहीं देखते-

> 'तू बाँह्मन मैं काशी का जोलाहा चीन्हि न मोर गियानां।
> तैं सब मागे भूपति राजा मोरे राम धियानां।।
> पूरब जनम हम बाँह्मन होते ओछै करम तप हीनां

---

102 मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृ- 110

103 (स0) हरिश्चन्द्र वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ० 486

104 हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर (कबीर वाणी स0 162), पृ० 247

रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां।।[105]

कथनी-करनी में अन्तर रखने-वालों की उन्होंने निर्भीकता के साथ तर्कपूर्ण निन्दा की और ऐसे पण्डित को 'पंडित वाद वदंते झूठा' कहा, 'पांडे' को सलाह दी- 'बेद कितेब छांडि देऊ पॉड़े, ई सब मन के भरमा' क्योंकि आचरण आपका कसाई जैसा है- 'साधो पॉड़े निपुन कसाई'।[106] इसी तरह उन्होंने छुआ-छूत, स्वर्ग-नर्क, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष जैसे बाह्यचारों को ढकोसला बताया। पण्डितों से वे भॉति-भॉति के प्रश्न करते हैं- मनुष्य : जो गर्भ से पैदा हुआ है वह अछूत कैसे हो गया? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये फ्ल किस दिशा में लगते हैं? अगर गोपाल के बिना कोई स्थान नहीं है तो भला लोग नरक कैसे जाते हैं? बैकुण्ठ किस जगह पर है? कौन सी जगह पवित्र है जो तुम कहते हो कि पवित्र स्थान पर भोजन करना चाहिए? शुद्ध क्या है? विचार करने पर मा-बाप भी जूठे हैं और वृक्षों के सारे फ्ल भी जूठे हैं। अग्नि और जल भी जूठे हैं। गोबर और चौका भी जूठा है और जूठी कलछी से ही अन्न परोसा जाता है। कबीर ने बताया कि पवित्र और शुद्ध वे ही लोग हैं जिन्होंने अपने मनो-विकारों को हरि की भक्ति करके दूर कर लिया-

कहु पंडित सूचा कवन ठाउ। जहॉ वैसि हउं भोजन खाउ।।

× × × × × ×

कहै कबीर तइ जन सूजे जे ही भजि तजहिं विकारा।।[107]

जिन नाथ-योगियों से कबीर का सीधा सम्बन्ध जोड़ा जाता है उनके भी बाह्याचारों का कबीर ने उतनी ही निर्ममता से विरोध किया। कबीर ने देखा कि जिनके पास लोग मुक्ति की कामना से जाते हैं वे स्वयं बन्धनों के गुलाम हैं। शरीर का योग

---

105 कबीर सग्रह (हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण 2000) पद 46, पृ० 36

106 कबीर- कबीर वाणीस0 151, पृ० 149

107. कबीर ग्रन्थावली (डा0 पारस नाथ तिवारी) पद 192, पृ0 112

साधने वाले अधिक है, मन का योग विरला ही साधता।[108] हरि स्मरण के अभाव में लुंचित, मुण्डित, मौनी, जटाधर, पंडित, गुणी, शूर, कवि, दाता सभी जैसे पैदा हुए वैसे ही नष्ट हो जायेंगे।[109] इसी प्रकार पीर, मुरीद, काजी, मुल्ला, दरवेश आदि सभी को चिताते हुए कहा कि कुरान और कतेब पढ़ने से फिक्र से छुटकारा नहीं मिलेगा। मन को स्थिर करने से ही खुदा को प्राप्त करने का आनन्द मिल सकता है।[110] तीर्थ-व्रत, पूजा अर्चा और रोजा-नमाज को भी वह बाह्याचार ही मानते थे। डॉ0 राम चन्द्र तिवारी, "पंडित हो या मौलवी, गुरु हो चाहें पीर, योगी हो चाहें फकीर, हिन्दू हो चाहें मुसलमान, यदि वह सच्चाई के मार्ग से अलग है, तो कबीर ने उसको चेतावनी दी है। टोका है, खिल्ली उड़ाई है। व्यंग्य और उपहास किया है। उन्होंने सहज सात्विक जीवन पद्धति को महत्त्व दिया है।"[111] उन्होंने बताया कि सारे भेदभाव, विषमता, कलह, वैमनस्य एवं हिंसा का समाधान है- आचरण की पवित्रता, सदाचरण, सत्संगति, इन्द्रिय-निग्रह, परदुःखकातरता, प्राणिमात्र के प्रतिप्रेम, गृहस्थ होकर अपनी मेहनत की कमाई का मिल बाँट कर खाना, श्रम की प्रतिष्ठा, संसार में रहकर उस परमेश्वर का अपने को एवं सभी प्राणियों को अंश मानकर उसका सप्रेम स्मरण करना और अपने अहं को समाप्त कर परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना।

आर्थिक विषमता तत्कालीन समाज में व्याप्त थी। कबीर ने "समाज के आर्थिक ढाँचे पर भी कड़ा प्रहार किया। जिस तथ्य को मार्क्स तथा एंगेल्स ने आधुनिक-युग में पहचाना, कबीर ने बहुत पहले स्पष्ट घोषणा की थी कि समाज तथा राष्ट्र में अधिकतर विवाद अर्थव्यवस्था की असमानता से उपजते हैं। राजनीतिक परिवर्तनों एवं सामाजिक अत्याचारों के कारण शिल्पकारों, श्रमजीवियों, किसानों तथा निम्न-वर्गों की आर्थिक दशा चिन्तनीय थी। यद्यपि अधिकांश धन जमींदारों तथा अमीरों के पास एकत्रित था

---

108 डा0 माता प्रसाद गुप्त - कबीर ग्रन्थावली, साखी 17, पृ० 78
109 डा0 माता प्रसाद गुप्त - कबीर ग्रन्थावली, पद132, पृ० 222
110 डा0 माता प्रसाद गुप्त - राग असावरी, पद 50, पृ० 298
111 डॉ0 रामचन्द्र तिवारी - कबीर मीमासा, पृष्ठ- 138

तथापि देश का बहुसंख्यक समाज अर्थाभाव से ग्रस्त था।''[112] कबीर कहते हैं कि जो निर्धन है, उनका आदर कोई नहीं करता। जब निर्धन धनी के यहाँ जाता है, तो वह मुहफेर लेता है, किन्तु जब धनी निर्धन के यहाॅ आता है तो वह उसका आदर करता है। वस्तुत· धनी और निर्धन दोनों भाई-भाई हैं। यह तो प्रभु की कला है जो दोनों दो स्थितियों में पड़ गये हैं। वास्तविक निर्धन तो वह है जिसके हृदय में भगवान् का नाम नहीं है।

निर्धन आदर कोई न देई। लाख जतन करै ओहु चित धरेई।
× × × × ×
निर्धन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।
कहि कबीर निर्धन है सोई। जाकै हिरदै नाम न होई।।[113]

आर्थिक विषमता भी व्यक्ति की स्वार्थवृत्ति का ही परिणाम है इसे 'महज प्रभु की कला' कहकर नहीं टाला जा सकता। वस्तुतः भौतिक वैभव को वह महत्त्व ही नहीं देते थे, इसी से इसका तीखा विरोध नहीं किया। यह सही है कि आर्थिक दृष्टि से कबीर ने जन-समाज के लिए धन को अनिवार्य तत्त्व माना और उसे शारीरिक परिश्रम द्वारा आवश्यकता के अनुकूल अर्जित करने एवं उपभोग करने का संदेश दिया। वे उतने ही धन को सर्वोपरि समझते थे जो दैनिक आवश्यकता की भली प्रकार पूर्ति करे। एक स्थान पर वे कहते हैं- ''हे माधव मुझसे भूखे पेट भक्ति नहीं होगी, लो अपनी माला संभालो। तुम तो कुछ दोगे नहीं तो लो मैं ही मॉग लूँ। परन्तु धन-संचय और वैभव की उन्होंने निंदा की तथा लोकहितार्थ धनोपार्जन को श्रेयस्कर बताया । आज की दार्शनिक शब्दावली में वे साम्यवादी थे।''[114] धन-संचय किसके साथ गया? अतः 'सुकृत' (सत्कर्म) की बात कही, वही असल पूजी है।

''कहै कबीर सुनहु रे संतो, धन संच्यों कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपाल राइ की माया मंदिर छांड़ि चल्यो।।[115]

---

112 (स0) हरिश्चन्द्र वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृष्ठ- 486-87

113 कबीर मीमांसा (से उद्धृत), पृ० 138

114 (स0) एच0सी0 वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ० 487

115 कबीर वाङमय खण्ड 2 · सबद 233, पृ० 296

अहंकार को त्याग कर नश्वर संसार के मायाजाल से विमुख हो भक्ति करने का अभिप्राय कबीर ने अक्सर यह बताया कि कोई किसी का आर्थिक शोषण न कर सके। वे मानते थे कि मानव में कर्तव्य का विवेक हो तो समाज स्वस्थ हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कथनी और करनी दोंनो के द्वारा युग-युग से पीड़ित समाज के निम्न वर्गों को आत्म सम्मान दिया। उन्होंने उपेक्षितों में आशा और विश्वास को पैदा करते हुए जीवन की एक नवीन दिशा का संकेत दिया।[116] वास्तव में संस्कृति का जो नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, उसे उन्होंने (कबीर ने) निम्न-वर्ग के लोगों के हाथों में पहुँचा दिया। कबीर की परम्परा में जो अनेक संत और महात्मा जनमे, उनमें नानक, रैदास, पलटू साहिब, चरणदास, सहजोबाई, धन्ना, सुन्दरदास, दादू, रज्जब, मलूकदास, यारी साहब, धरणीदास के नाम अत्यन्त विख्यात हैं, और इनमें से कोई भी संत ब्राह्मण नहीं था।

कबीर के बाद मध्ययुगीन समाज को प्रभावित करने वाले संतों में गुरुनानक का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि समाज-सुधार की पृष्ठभूमि नानक के लिए कबीर पहले ही बना चुके थे, परन्तु नानक का सामाजिक बुराइयाँ एवं अन्ध-विश्वास दूर करने का तरीका कबीर से भिन्न था। उनका व्यक्तित्व सभी निर्गुण-संतों में अत्यन्त भद्र और शान्त है, बिना किसी का दिल दुखाये, सामाजिक आचार-विचारों की दुनिया में परिवर्तन लाने वाले नानक ने कुसंस्कारों को नष्ट करने का माध्यम प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सर्वहितचिन्तन को बनाया। एक ओर उन्होंने मानव के सामाजिक दुःखों का अनुभव किया वहाँ दूसरी ओर अन्धविश्वासों और गलत मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। भेदभाव से ऊपर उठकर वे हिन्दू-मुसलमानों को समान दृष्टि से देखते थे। उनके विचार कबीर तथा अन्य निर्गुण संतों से मिलते हैं, परन्तु नानक में अक्खड़पन तथा खण्डन-मंडन की प्रवृत्ति कम है। सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का विरोध, हिन्दु-मुस्लिम एकता, जाति-पांति का विरोध तथा सच्ची पवित्र भक्ति उनका ध्येय रहा। उन्होंने राजनीतिक-धर्मान्धता का सामाजिक संगठन पर प्रभाव का अध्ययन

---

116 एच()सी() वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ- 487

किया। हिन्दुओं का एक वर्ग असहिष्णु, अनुदार और संकीर्ण हो गया। अपने को विधर्मी प्रभावों से बचाना उसका उद्‌देश्य हो गया। युग-धर्म, लोकधर्म से पराङ्मुख होकर बाह्याचारों, रूढ़ियों के कवच से अपने को सुरक्षित रखना उनका प्रमुख उद्‌देश्य था।[117] सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठी। ब्राह्मण अपनी दैवी सम्पदा को त्याग कर पाखण्डपूर्ण धर्म में रत हो गये। क्षत्रिय अपने स्वाभाविक शौर्य, भाषा तथा संस्कृति को त्यागकर उदरपोषण के निमित्त अरबी-फारसी के अध्ययन में रत हो गयेः

> अरबी तमीटहि नाक पकड़हि ढगण कउ संसारु।
> आंट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिनि लोअ।
> मगर पाछै कछु न सूझै, एहुपदमु अलोअ।
> खन्त्रीआत धरमु छोड़िया, मलेछ भाखिया गयी।
> सृसटि सम इक बरन होई धरम की गति रही।[118]

कबीर की भांति नानक ने हिन्दुओं में व्याप्त ब्राह्मण-शूद्र-भेदभाव का खण्डन किया तथा मनुष्यमात्र में स्थित परमात्मा की ज्योति को समझने की बात कही। जाति-पांति के चक्कर में मत पड़ो, क्योंकि वर्णव्यवस्था के पूर्व कोई जाति-पांति नहीं थी। गुरुनानक के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में चारों वर्णों का समन्वित रूप होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने इस समन्वित रूप को अपने में स्थापित कर लिया है, वही परमात्मा का वास्तविक रहस्य जानता है।

> जोग सबदं गिआन सबदं वेद सबदं ब्राह्मणाह।
> खत्री सबदं सूर सबंद शूद्र सबदं पराकृतह।।
> सरब सबदं एक सबदं जे को जाणे भेउ।
> नानक ताका दास है सोई निरंजन देउ।[119]

कोई जन्म से ब्राह्मण नहीं, बल्कि कर्म से ब्राह्मण होता है।

---

117 चौबे एव श्रीवास्तव- मुध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृ- 364

118 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति (से उद्‌धृत गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ0 662-63), पृ0 364

119 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति (से उद्‌धृत गुरु ग्रन्थ साहिब, महला 1, पृ0 463), पृ0 365

जाति गरबु करी अहु भाई।
ब्रह्मु बिन्दे सो ब्राह्मण होई।।[120]

नानक ने स्पष्ट कहा है कि 'मेरा सम्बन्ध किसी जाति से नहीं है। यात्रा के समय वे शूद्रों के साथ रहने में संतोष तथा आनन्द का अनुभव करते थे। जाति-प्रथा को समाप्त करने के लिए उन्होंने अपने सभी शिष्यों के लिए एक भोजनालय की व्यवस्था की थी जिसे गुरु का लंगर कहते थे। उन्होंने अपने सभी शिष्यों को एक साथ भोजन करने पर जोर दिया। उन्होंने छुआ-छूत के भेदभाव को मिटाकर भ्रातृत्व का स्वर उठाया।[121] संतों पर जो आरोप लगता है कि उन्होंने स्त्री को उच्च स्थान नहीं दिया और यहाँ तक कि कबीर जैसा क्रान्तिकारी एवं मानवतावादी संत नारी को 'माया' एवं 'विषम-विकार' ही समझता था और 'कंचन तथा कामिनी' से दूर रहने की सलाह दिया। यद्यपि उन्होंने पतिव्रता एवं चरित्रवान स्त्री को बहुत महत्त्व दिया। मुस्लिम शासनकाल में भारतीय नारियों के ऊपर अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। अमृत्व साधना के सारे अधिकारों से वंचित थी और संत-महात्माओं की दृष्टि में उन्हें हेय समझा जाता था। गुरु नानक ने स्पष्ट लिखा कि लोगों की दृष्टि में स्त्रियों का स्थान गिरा हुआ था। अतः उन्होंने (नानक ने) हिन्दू-जाति में उपेक्षित नारी को गौरव के आसन पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। नानक के अनुसार, "स्त्री द्वारा हम गर्भ में धारण किये जाते हैं, और उसी से जन्म लेते हैं। उसी से हमारी जीवन पर्यन्त मैत्री है। उसी से सृष्टि कर्म चलता है। स्त्री हमें सामाजिक बन्धन में रखती है। फिर हम उस स्त्री को मन्द क्यों कहें, जिससे महान् पुरुष जन्म लेते हैं :[122]

भंडि जंमीए निभीए भंडि भगणु विआहु।
भंड्हु होवे दोस्ती, भंड्हु चले राहु।।
भंडु मुआ भंडु मालिए, भंडि होवे बंधानु।

---

120 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव संस्कृति (से उद्धृत), पृ० 365

121 मध्ययुगीन भारतीय समाज एव सस्कृति, पृ0365-366

122 मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ0367-368

सो किउ मदां आखिए, जितु जंमहि राजानु।।
( श्री गुरु ग्रंथ साहिब, महला 1, पृ0- 473)

उन्होंने स्त्रियों को समानता का अधिकार दिलाया। नानक ने स्त्रियों को ईश्वर की आराधना तथा पति के प्रति प्रेम, भक्ति-भावना पर जोर दिया। उन्होंने बताया कि गुणवन्ती-स्त्रियों में एक प्रकाश रहता है। एक सुशील-स्त्री का गुण उसके शरीर को सुसज्जित करना नहीं बल्कि उसके पति के प्रति स्नेह तथा प्रेम को प्रदर्शित करना है। परन्तु धन के लालच में सती¯त्व बेचने वाली विधवा स्त्रियों की कटु आलोचना भी की।[123]

समाज में विषमता पैदा करने वालों में धन का अवैध तरीके से कुछ लोगों के पास संग्रह होना भी है। नानक मेहनत की कमाई पर विश्वास करते थे। जीवनभर अपनी गृहस्थी का पालन करने के लिए कार्य करते रहे और जब बच्चे बढ़े हो गये तो पूर्णतः वैराग्य ले लिया जो कि उनके अन्दर बचपन से ही पल रहा था। उनका मानना था कि धनांध व्यक्ति भौतिक सुख के लिए अत्याचार और क्रूर कार्य करता है। ऐसे अभिमान में अपने को जला डालते है। ऐसे मनुष्य की वही दशा होती है जो दावाग्नि में पड़कर तृण समूह की।

सुइना रूप सचीए मालु जालु जंजाल।
× × ×
महर मलूक कहाईए राजा राउकी खानि।
× × ×
मनु मुखि नाम बिसारिआ जिउ उवि दधाकानु।
दउमै करिजारि जाइसी जो आइआ जगमाहि।
सब जगु काजल कोठड़ी, तनु मनु देह सुआहि।।[124]

नानक ने अर्थ-संग्रह की अपेक्षा उसके समुचित वितरण पर जोर दिया। इस प्रकार नानक का उद्देश्य था सम्पूर्ण मानव-समाज का उत्थान। नानक के प्रभाव से

---

123 मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं सस्कृति, पृ0368

124 मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं सस्कृति से उद्धृत, पृ0 368-69

पंजाब की जनता के साथ-साथ देश को भी नयी दिशा मिली तथा समानता, बंधुता, ईमानदारी तथा सृजनात्मक शारीरिक श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन पर आधारित नई समाज व्यवस्था स्थापित हुई। उन्होंने पारम्परिक समाज और धर्म की भर्त्सना या विरोध का मार्ग ही नहीं अपनाया वरन् आध्यात्मिक साधना वाली भक्ति और सूफी परम्परा की मध्यकालीन भारतीय जीवन तथा सामाजिक राजनीतिक परिवर्तनों के संदर्भ में व्यवस्था भी की। वस्तुतः गुरुनानक में हमें विचारपरक जनतांत्रिक सिद्धान्तों के महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं जो समाजवादी समाज का पूर्वाभास देते हैं।[125] निश्चित ही वे सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक जागरूक थे और उन्होंने इन समस्याओं के लिए उपचारात्मक उपाय भी सुझाये।

संतों के समय में हिन्दुस्तान अनगिनत फिर्कों में बँटा हुआ था और सबके ऊपर शासन करता था सनातनी ब्राह्मण-वर्ग। अब्राह्मणों, और खासकर शूद्रों की बड़ी शोचनीय अवस्था थी। हिन्दू-समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानना तो दूर की बात रही, हमारे पुरोहित-श्रेणी के पंडित-लोग इन्हें अस्पृश्य, जानवरों से भी गया बीता समझते थे। मन्दिर में अगर कोई कुत्ता चला जाय तो उतना हर्ज नहीं है पर अगर कोई चमार दर्शनार्थ घुस पड़े तो उसकी मौत ही समझिये।[126] ऐसी विषम परिस्थिति में रविदास ने अपने व्यक्तिगत जीवन और आचरण से सिद्ध कर दिया कि मानव अपने सत्कर्मों एवं प्रयत्नों से महान् होता है चाहे वह किसी कुल या व्यवसाय से सम्बद्ध क्यों न हो। जात-पांत का दंश रविदास ने खूब झेला। ''जो हो, जात-पांत का रविदास ने भी कबीर से कम शक्तिशाली शब्दों में विरोध नहीं किया। 'जाति बिखिआत चमार' ही 'रिंदैराम गोविन्द गुण सार' होने के कारण 'अब विप्र परधान तिहि करहि डडउति' बनारस के प्रधान ब्राह्मणों का ही साष्टांग प्रणाम स्थल बना हुआ है। कबीर ने तो एक बार

---

**125** एच0सी0 वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ0 489

**126** हिन्दी संत-काव्य-संग्रह (भूमिका), पृ0 40

ललकारा ही था 'मैं जुलाहा हूँ और तुम काशी के ब्राह्मण, मेरा ज्ञान पहचानो' लेकिन-

'जाके कुटुम्ब ढेढसभ ढोर ढोवत फिरहि अजहु बनारसि आस-पासा।'

उसी रविदास को 'आचार सहित' 'विप्र करहि डंडउतितिन तनै'।''[127] वस्तुतः व्यक्ति जाति-व्यवसाय से नहीं सत्कर्म से सिरमौर बनता है। कर्म का महत्त्व स्थापित करते हुए बाल्मीकि का उदाहरण देकर जीव को कर्मण्य जीवन व्यतीत करने का संदेश एवं प्रेरणा दी है -

काहे न बालमीकिह देख।
किस जाति ते किह पदहि अमरिओ, रामभगति विसेख।।[128]

इसीलिए जीव को सचेत करते हैं 'काहे रिदे राम न जपसि अभाग'। रैदास ने कर्मण्य-जीवन में कथनी एवं करनी में ऐक्य का महत्त्व स्थापित किया है। आडम्बरी ब्राह्मणों के पाखण्डपूर्ण ज्ञान का तो उन्होंने विरोध ही किया है, क्योंकि 'करम अकरम बचारिये संका सुनि बेद पुरान।' ऐसे ब्राह्मण तो न जाने कितने मार्ग बताते हैं, जो संदेहोत्पादक हैं। इस प्रकार जन्म-जाति, कर्म-व्यवसाय का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं:

बरन अबरन रंकु नहीं ईसरु विमल बासु जानिए जगि सोई।
ब्रह्मन बैस सूद अरू ख्यत्री डोम चंडाल मलेछ मन
सोई।।
× × ×
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरू न कोई।।[129]

मध्ययुगीन भारत में 'संतो के भी संत, रविदास का समाज की पुकार के प्रत्युत्तर में यह सामाजिक समता का स्वर निनादित हुआ था। वस्तुतः जिस आन्दोलन को कबीर ने राष्ट्रीय स्तर पर आरम्भ किया था, रविदास ने उसे ही जातिगत स्तर पर

---

127. डॉ0 धर्मपाल मैनी- मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृ0 - 148
128 डॉ0 धर्मपाल मैनी- मध्ययुगीन निर्गुण चेतना से उद्धृत, पृ0 - 149
129 डॉ0 धर्मपाल मैनी- मध्ययुगीन निर्गुण चेतना से उद्धृत, पृ0 - 149

चलाया था। कबीर ने मानव में समता और एकता का राग अलापा था, चाहे वह किसी धर्म, कर्म, पद, जाति व जन्म से सम्बन्धित क्यों न हो। रविदास ने घर में उजाला करने के बाद ही जगत् को आलोकित करना उचित समझा था। हिन्दू-जाति के 'बिखिआत चमार' होने का गौरव उन्हें प्राप्त था-उन्होंने उसी जाति को अपने 'चमारत्व' की अन्त ज्योति से ज्योतित करने का प्रयत्न किया। संक्षेप में जो कार्य कबीर ने एक दृढ़ समृद्ध राष्ट्र-निर्माण के लिए किया था, उसी के लिए रविदास एक सशक्त धर्म और जाति का आधार प्रस्तुत करते रहे। दोनों का कार्य एक ही था, केवल पैमाने एवं आकार का भेद था।[130] सम्भवतः यही कारण है कि रैदास का कार्य मधुर व्यंग्यों से चल गया, वहाँ कबीर को कठोर व्यंग्यों का सहारा लेना पड़ा। सामाजिक, राजनीतिक दुव्यर्वहार से निम्न-जातियाँ पिस रही थी, जिसकी प्रतिक्रिया में छींबा, नाई, जुलाहा, जाट, धुनिया और इन सबसे भी एक कदम आगे चमार रविदास जाति से नीचतम और संस्कारों से उच्चतम व्यक्तित्व लेकर हमारे समक्ष आये। यह छटपटाहट रविदास में है। उनकी भगवान् से पहली प्रार्थना यही है कि 'नीचहु ऊँच करै' और 'मेरी हरहु विपति'। जीवनभर वह अपना व्यवसाय करते रहे।

दादू भी जाति-पांति के विरोधी थे और वे दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करना चाहते थे। दादू ने ईश्वरीय भक्ति को समाजसेवा एवं मानवतावादी दृष्टि से सम्बद्ध किया।[131] साधारण गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते हुए धुनियागिरी से जीविकोपार्जन करते थे। अधिकांश समय भ्रमण, सत्संग तथा सर्वसाधारण को उपदेश देने में ही व्यतीत हुआ। उनकी नम्रता, क्षमाशीलता, कोमल-हृदयता एवं प्रेमोन्मत्तता ने लोगों को काफी प्रभावित किया। जातीय उच्चता एवं सामाजिक कुरीतियों पर कबीर जैसी तीव्रता से प्रहार नहीं किया, क्योंकि विनय-मिश्रित मधुरता उनके स्वभाव में अधिक थी। वे समभाव के दर्शन सर्वत्र करते हैं– कीट से कुंजर तक।

---

130 मैनी - मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृ० 148

131 यच0सी0 वर्मा - मध्यकालीन भारत, पृ० 489

'दादू समकरि देखिए, कुंजर कीट समान।'[132]

एक ही आत्मा सभी में व्याप्त है और जब यह भावना हृदय में आ जाती है तब कोई किसी का बैरी नहीं रह जाता-

'दादू एकै आत्मा बैरी नाहि कोई'।[133]

मतवाद, शास्त्र, तीर्थ, व्रत, पूजा, नमाज आदि बाह्याडम्बरों का विरोध किया। श्रुति, स्मृति, पुराण तथा शास्त्रों आदि के पचड़े में पड़ने के संबंध में दादू जी कहते हैं कि जिसने मूलाधार का आश्रय लिया वह तो वास्तविक आनंद को प्राप्त हो गया, पर जो वेद, पुराण आदि के पीछे पड़ा वह डाल, पत्तों में ही भटकता रह गया अर्थात् असल चीज उसे नहीं मिल सकी-

दादू पाती प्रेम की, बिरला बाचै कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढे, प्रेम बिना क्या होइ।।[134]

पूजा, नमाज आदि की निस्सारता के सम्बन्ध में दादू कहते हैं-[135]

आप अलेख इलाही आगे, तहॅ सिजदा करे सलाम। (229 परचा के अग में)

निष्काम कर्म की ओर संकेत करते हुए दादू कहते हैं-

फल कारन सेवा करइ, जांचइ त्रिभुवन राव।
दादू सो सेवक नहीं खेलइ अपना दाव।।
तन मन सब लागा रहइ, दाता सिरजन हार।
दादू कुछ मांगइ नहीं, ते बिरला संसार।।

धर्म के नाम पर जीव-हत्या करने वालों को कबीर ने कसाई कहा। यही बात मलूकदास कहते हैं। ऊँचा कोई जाति से नहीं होता, अपितु जिनके हृदय में प्राणिमात्र के

---

132 दादू दयाल की वानी, 224/28, (सत साहित्य मे मानव मूल्य से उद्धृत, पृ०80)

133 दादूदयाल की वानी, पृ० 222, भाग ।

134 हिन्दी संत-काव्य-संग्रह (भूमिका), पृ०42

135 हिन्दी सत-काव्य-सग्रह (भूमिका), पृ०44

प्रति दया है, जो सुधावर्षिणी वाणी का प्रयोग करता है और जो नम्रताजन्य दृष्टि से युक्त हो, वही ऊँचा होता है :

दया धर्म हिरदै बसै, बोले अमृत बैन
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन।।[136]

मलूकदास ने बाह्य संस्कारों एवं मूर्तिपूजा की कटु आलोचना की। वे बहुत कोमल दिल इन्सान थे। प्राणिमात्र की हिंसा के विरोधी थे। सभी में कुंजर (हाथी) हो या चींटी एक ही साहब है तब जीव हत्या करना ईश्वर का गला काटना है। सभी की पीड़ा एक सी होती है। यथा-[137]

कुंजर चींटी पशु नर सब में साहेब एक।
काटे गला खोदाय का करै सूरमा लेख।।
× × ×
पीर सभन की एक सी मूरख जानत नाहि।
कांटा चूमे पीर होय, गला काट कोउ खाय।।[138]

जो सभी का दुःख अपना-सा जानता है, वही अविनासी ब्रह्म को प्राप्त करता है- 'अपना सा दुःख सबका जानै ताहि मिले अविनासी'।

ऐसे मानवीय मूल्य है जिनसे सामाजिक एकता, समता एवं बन्धुत्व स्थापित हो सकती है। पण्डित वेदों को पढ़-पढ़कर उनमें उलझ जाते हैं और ज्ञानी ज्ञान का वर्णन करते हैं, ब्रह्म की अद्‌भुत लीला कोई नहीं पहचानता है-

वेद पढ़े पढ़ि पण्डित भूले, ज्ञानी कथि-कथि ज्ञान।
कह मलूक तेरी अद्‌भूत लीला सो काहु नहीं जान।।[139]

इसी प्रकार धरनीदास ऐसे पण्डितों को पण्डित ही नहीं मानते जो वेदशास्त्र का अध्यापन करते हुए भी उनके आदर्शों को अपने आचरण में नहीं लाते।

---

136 मलूकदास की वानी, पृ०33
137. मलूकदास की वानी, पृ०33
138 मलूकदास की वानी, पृ०33
139 मलूकदास की वानी, सन् 1971, पृ०4

धरनी सो पण्डित नहीं जो पढ़ि गुनि कथै बनाय।
पण्डित ताँहि सराहिए, जो पढ़ा बिसरि सब जाय।।[140]

वस्तुतः संतों ने अनुभूति के आधार पर देखा कि सारी सृष्टि एक है, सभी में वही परमात्मा व्याप्त है। जाति, धर्म, रूप रंग, वेशभूषा आदि का कोई महत्त्व नहीं है। सुन्दरदास ने लिखा है-

तोहि में जगत यह तू ही है जगत माँहि।
तो मैं अस जगत में भिन्नता कहाँ रही।।[141]

सुन्दर हिन्दू मुसलमानों के भेदभाव एवं उनके जातीय वैमनस्य भुलाने का उपदेश देते हैं और दोनो की हदें छोड़कर एक ब्रह्म की पहचान करने की बात करते हैं-

हिन्दू की हदि छाड़ि के तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हियां एकै राम अलाह।।[142]

दादू के पट्ट शिष्य रज्जब के अनुसार तो ईश्वर का स्थान मनुष्य की आत्मा है। घर छोड़कर ईश्वर अनुभूति के लिए जंगल में जाकर तपस्या करने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य का जीवन मंदिर तथा मस्जिद है। इसी में ईश्वर की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए। उन्होंने पण्डितों तथा मुल्लाओ की कटु आलोचना की।[143] रज्जब जी कहते हैं कि हृदय में सेवा का भाव है तो जीवन में उसके सब वश में हो जाते हैं-

रज्जब सेवा बन्दिगी, दिलि दाता तन होय।
सतगुरू साईं साधु सुर, ताके बसि सब कोय।।[144]

कुसंगति को कुमति की उदय स्थली मानते हुए कहते है कि जिस प्रकार मदिरा पीने वाले बर्तन में दूध रखने से फट जाता है, उसी प्रकार बुरी संगति में भले व्यक्ति भी बुरे बन जाते हैं-

---

140. संत वानी संग्रह- भाग, 1, धरनीदास, पृ० 116
141. सुन्दर ग्रन्थावली- द्वितीय खण्ड, पृ० 649/14
142. संत सुधासार, खण्ड 1, पृ० 597
143. मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ० 405

रज्जब रहे कुसंग में, कुमति उदय है जाय।
ज्यूं सुरापान के कुंभ में, खीर ख्वार है जाय।।[145]

वे नाम जप की महत्ता बताते हैं जो शरीर, मन और आत्मा तीनों को पवित्र कर देता है। बाकी बाह्याडम्बरों की कोई महत्ता नहीं मानते है। वे समता के उपासक थे-

हिन्दू तुरक दून्यूँ जल बूँदा।
कासूँ कह्यो बाभण सूदा।
रज्जब समता ज्ञान विचारा।
पंचतत्त का सकल पसारा।।[146]

डॉ0 व्रजलाल वर्मा का मन्तव्य है कि रज्जब जी ने अपने साधना सम्बन्धी दृष्टिकोण में दोनों (लौकिक एवं आध्यात्मिक) पक्षों को यथोचित स्थान दिया है तथा मानव जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए सैद्धान्तिक आग्रहों की अतिशयता का परिमार्जन किया है। आगे वे लिखते हैं "रज्जब ऐसे संत थे जिन्होंने जीवन के सर्वतोमुखी विकास को महत्त्व प्रदान किया था। रज्जब जी के साहित्य में लोकोपयोगी मानवजीवन के सभी पक्ष प्राप्त होते हैं। मानव-जीवन का इतना व्यापक एवं बहुपक्षीय चित्र विश्व के बिरले कवियों के साहित्य में मिलेगा।"[147]

पलटू साहब का भी मानना है कि जाति-पांति से कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। जो ईश्वर को भजता है, वही श्रेष्ठ है–

हरि को भजै सो बड़ा है, जाति न पूछे कोय।[148]

ब्राह्मण भी उच्च कहा जा सकता है जब वह ईश्वर का स्मरण करे अन्यथा वह नीच ही है-

---

144 व्रजलाल वर्मा- संत-कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ० 104
145. व्रजलाल वर्मा- सत-कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ० 240
146. संत सुधासार, खण्ड 1, पृ० 530
147. डॉ0 व्रजलाल वर्मा- संत-कवि रज्जव (सम्प्रदाय और साहित्य), पृ०262
148 पलटू साहब की वानी भाग 1, पृ० 86

पलटू ब्राह्मन है बड़ा, जो सुमिरै भगवान्।
बिना भजन भगवान् के, ब्राह्मण ढेढ समान।।[149]

वास्तव में निर्गुण संत-कवि सामाजिक एकता एवं अखण्डता के प्रहरी थे। संतकवि पलटू दास को आश्चर्य होता है कि सब कुछ जानते हुए एवं दूसरे को अहिंसा का उपदेश देते हुए धर्मग्रन्थों का सहारा लेकर वेदपाठी पण्डित या पुजारी ऐसा आचरण करते हैं-

''सब जातिन में उत्तम तुमही, करतब करौ कसाई।
जीव मारि के काया पोखो, तनिकौ दरद न आई।।
× × ×
बकरा भेड़ा मछरी खायो, काहें गाय बराई।
रुधिर मांस सब एकै पांड़े, भू तोरी बह्मनाई।।[150]

ऐसे पण्डितों को वे कहते हैं-

पढ़ि-पढ़ि तुम क्या कीन्हा पण्डित। अपना रूप न चीन्हा।।[151]

इस प्रकार संतों ने प्रेम एवं सदाचरण के द्वारा मानवनिर्मित सभी भेदभावों को गलत बताया और मानव-मानव में परस्पर भाईचारा एवं सहयोग का वातावरण समाज में पैदा करने का प्रयास किया। वस्तुतः 'प्रेम एवं सदाचरण' तथा 'कथनी और करनी'- उनके आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों पक्षों को उद्‌घाटित करते हैं। सामाजिक विषमता के पीछे और धार्मिक भेदभाव के भी, यही कारण थे। इसीलिए संतों ने बार-बार प्रेम और सदाचरण की बात कही, मनसा-वाचा-कर्मणा इसी बतायी बात पर अमल करने पर जोर दिया। वस्तुतः प्रेम हृदय का बिस्तार है, जाति, वर्ण सब छूट जाते हैं, क्योंकि चारो तरफ मस्ती ही मस्ती दिखायी देती हैः

प्रेम दीवाने जो भये, जाति वरन गइ छूट।
सहजो जग बौरा कहै लोग गये सब छूट।।[152]

---

149 पलटू साहब की वानी भाग 1, पृ० 86

150 पलटू साहब की बानी- भाग-3, पृ० 91-92

151. पलटू साहब की बानी- भाग-3, पृ० 50

सामाजिक समता के लिए आर्थिक विषमता को भी दूर करना पड़ेगा। अतः आर्थिक विषमता की ओर भी संतों ने ध्यान दिया। निरन्तर होने वाले युद्धों के कारण खेतीबारी एवं व्यापार धन्धा सभी का विकास रूक गया। संत चरण दास कहते हैं-

एकन पग पनही नहीं, एक चढ़ै सुखपाल
यही जो मोहि बताइए, एक मुक्ति को जांहि।।
एक नरक को जाय करि मार जमों की खांहि।
एक दुःखी एक अति सुखी, एक भूप इक रंक।।[153]

संत पलटू दास कहते हैं कि मध्यकाल में कुछ सूदखोर ब्याज पर गरीबों को पैसा देते थे या जब किसानों के पास अनाज पैदा होता था तब सस्ते में उनसे खरीदकर उन्हीं को मंहगी के समय अधिक मूल्य पर बेचते थे।

"सस्ते मॅह अनाज खरीद के राखते।
महँगी में डारैं बेचि चौगुना चांहते।।
देखो यह बैराग दाम को गाड़ते।
अरे हाँ, पलटू जम की बात है दूर हाकिम अब डाँडते।।[154]

इस विषमता एवं दुर्दशा को दूर करने के लिए संतों ने धन की व्यर्थता को घोषित करना शुरू किया और माया की निन्दा की ताकि समाज में अर्थ के प्रति मोह न रहे और अर्थजन्य अनेक कुरीतियाँ दूर हो सके। इसीलिए कबीर ने पहले ही कहा कि दूसरे को मत ठगो, स्वयं को ठगाओं क्योंकि 'आप ठगे सुख ऊपजे और ठगे दुख होय।'

'राष्ट्रीयता की पहली शर्त है समाज में साम्यभाव का दृढ़ होना।'[155] इस सम्बन्ध में हमने अनेक संत-कवियो की तद्‌विषयक चेतना को देखा। इस संदर्भ में सिख गुरूओं का अप्रतिम योगदान रहा है। उनमें गुरू गोविन्द सिंह का स्मरण वरवश ही हो आता है।

---

**152.** संतबानी संग्रह-भाग-1, सहजोबाई, पृष्ठ- 158

**153.** डॉ0 त्रिलोकी नारायण दीक्षित-संत चरणदास, पृ०20

**154.** पलटू साहब की बानी- भाग-2, पद-29, पृ० 65

**155** 'क्या हम वास्तव में राष्ट्रवादी है? प्रेमचन्द्र का लेख (1934 में) - आजकल, साहित्य एवं सस्कृति का मासिक, दिसम्बर, 2000 के अंक में देवेन्द्र चौबे के दलित साहित्य की वैचारिक सरचना' लेख से उद्‌धृत, पृ० 7

वस्तुतः उनका भक्त, योद्धा, साहित्यकार और समाज सुधारक सदा ही एक साथ जागरूक रहा है।[156] उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन को आन्दोलित कर दिया। उन्होंने जाति-पांति, धार्मिक संकीर्णता, मूर्तिपूजा, छूआ-छूत, भीरुता आदि का विरोध कर लोगों के हृदय में 'पूर्ण मनुष्यत्व' की भावना जगायी तथा शौर्य, साहस एवं संघर्ष करने की अदम्य प्रेरणा जगायी। राष्ट्रीयता के उन (भीरू हिन्दुओं) का धर्म बनाने की कोशिश की।[157] सबसे बड़ी जातिविरोधी क्रान्तिकारी घटना 'पॉच प्यारों' का चयन। ये पॉच प्यारे विभिन्न जातियों के थे-लाहौर का खत्री दयाराम, दिल्ली का जाट धर्मदास, द्वारका का धोबी हुकुम चन्द, बिदर का नाई सीहब चन्द तथा जगन्नाथ का कहार हिम्मतराय। दिलचस्प बात तो यह है कि पाँचो प्यारे जाति के अछूत थे।[158] इन अछूतों के कन्धे पर धर्म और संस्कृति के उन्नयन का सौभाग्ययुक्त भार था। इस घटना का जिक्र करते हुए डॉ0 गोपाल सिंह लिखते हैं- ''अब गुरु ने पानी से भरा एक लोहे का कटोरा मंगवाया। उन्होंने पांचों प्यारों को अपने साथ कटोरे के चारों ओर बैठकर बारी-बारी दुधारी कटार से पानी को हिलाते हुए अपने या पूर्व-गुरुओं के रचे हुए पद पढ़ने को कहा। यह काम चालू ही था कि गुरु की पत्नी जीतो बताशे लेकर वहाँ आ पहुँची। गुरु ने उनसे बताशों को पानी में घोल देने को कहा। उन्होंने कहा, ''हाँ बहुत अच्छा संयोग है-खालसा सिर्फ योद्धा ही नहीं होंगे, वे जिसकी सेवा करेंगे उसके जीवन में मिठास भी भरेंगे''। पाठ खत्म हुआ तो गुरु ने कटोरे के उस 'अमृत' को पांचों प्यारों को बांटा। उनकी आंखों, वालों पर उसको छिड़का और फिर उसी कटोरे से बारी-बारी पांचों ने अमृत का पान किया। इसके बाद वे स्वयं उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये, और उनसे अपने ऊपर 'अमृत' छिड़कने और प्रसाद देने को कहा। सब स्तब्ध रह गये। उन्होंने कहा, ''आप हमारे गुरु हैं। इहलोक और परलोक में हमारे रक्षक हैं, जिसके चरणों में हमने अपना जीवन तक अर्पित कर दिया है। हम कैसे आपको अमृत दे सकते

---

156 मध्ययुगीन निर्गुण चेतना, पृ० 201

157. डॉ0 गोपाल सिंह-गुरु गोविन्द सिंह, पृ०16

158 डॉ0 गोपाल सिंह-गुरु गोविन्द सिह, पृ०17

हैं।" गुरु ने उत्तर दिया, "आज से मैंने नयी व्यवस्था शुरु की है। न कोई बड़ा होगा और न कोई छोटा। मैं आपका शिष्य बनकर, समानता के आधार पर यह नयी बिरादरी स्थापित करना चाहता हूँ।" गुरु ने अपना आदेश वापस लेने से इंकार कर दिया तो उनको भी उसी अमृत से अभिषिक्त किया गया। उनके भक्तों को बड़ा आश्चर्य हुआ। सारे वातावरण में मानो बिजली दौड़ गयी हो। एक नयी जान पड़ गयी। कहते है कई हजार व्यक्तियों ने उस दिन दीक्षा ली। दो सप्ताह में उनकी संख्या अस्सी हजार हो गयी। गुरु ने उन्हें खालसा यानी पवित्र कहकर उनका सम्मान किया।"[159] वस्तुतः जाति-धर्म एवं राजनीति के अत्याचारों से त्रस्त जातियों के लिए सर्वाधिक प्रेरणाप्रद एवं मुक्ति की घटना थी जो अब तक अमानवीय व्यवहार को सहना अपनी नियति मान बैठे थे। गुरु के भाषण ने उनमें जीने की ललक पैदा कर दी। "अब से आपकी कोई जाति नहीं है। आप हिन्दू या मुसलमान किसी धार्मिक उपचारो या अनुष्ठानों का पालन नहीं करेंगे। किसी प्रकार के अंधविश्वास नहीं रखेंगे। एक ही परमात्मा में विश्वास रखेंगे जो सबका रचयिता और रक्षक है, जो सृष्टिकर्ता और संहारक है। इस व्यवस्था में ऊँच-नीच सब बराबर होंगे, सब एक दूसरे के भाई होंगे। अब से आपके लिए तीर्थ-यात्रा बन्द है। किसी प्रकार के कठोर जीवन की आवश्यकता नहीं, पवित्र गृहस्थ-जीवन ही आपका जीवन होगा।"[160] गुरु ने स्त्रियों को पुरुषों के समान मानते हुए कन्या-हत्या करने वालों को खालसा में कोई स्थान नहीं दिया। गुरु ने शास्त्र के साथ शस्त्र को भी महत्त्व दिया। गुरु ने अपने सिंहों से कहा, "आप हिन्दुओं-मुसलमानों को जोड़ने वाली कड़ी बनेंगे। गरीबों की, जाति की परवाह किये बिना, सेवा करेंगे।"[161] उनका कहना था-

हिन्दू तुरक कोऊ राफ्जी इमामशफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानवो।
करता करीम, सोई, रजक रहीम ओई,

---

159 डॉ0 गोपाल सिह- गुरु गोविन्द सिंह, पृ० 17-18

160. डॉ0 गोपाल सिंह- गुरु गोविन्द सिंह, पृ०18

161 डॉ0 गोपाल सिंह- गुरु गोविन्द सिंह, पृ० 19

दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानवो।।[162]

## (3) गृहस्थ एवं शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा :

सामाजिक स्तर पर संतों का प्रभाव सराहनीय रहा। पारिवारिक और आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिए संतों ने दूसरों पर आश्रित या परजीव रहने वालों का विरोध किया। "यह भी बड़ी बात है कि निर्गुण भक्तिधारा में कबीर पहले संत थे जो संत होकर भी अंत तक शुद्ध गृहस्थ बने रहे एवं शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा (Dignity of Labour) को मानव की सफलताओं का आधार बताया।[163] उन्होंने धन के प्रति अतिशय आसक्ति का विरोधकर केवल उतना ही अपने साई से माँगा जितने से कुटुम्ब का पालन-पोषण हो सके और न वह भूखा रहे, न कोई सज्जन भूखा उनके दरवजे से लौटकर जाय।[164] क्योंकि भूखे तो भगवद्-भजन भी नहीं हो सकता। उन्होंने लालच का विरोध किया और अपनी मेहनत से रूखा-सूखा भी मिल जाय वह परायी चूपड़ी से अच्छा है। लोगों के सामने अपने को भूखा कहने को वे बुरा मानते हैं[165]– 'कबीर भूखा-भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग।' संत गठड़ी नहीं बाँधता-

कबीर संत न बांधै गाठड़ी, पेटि समाता लेइ।
सांई सू सनमुख रहै, जहॉ मागै तहां दे (देइ)।।[166]

कबीर कर्मठ संत थे। आजकल करके टाल मटोल करने वालों को चिताया कि जो काम कल करना हो, उसे आज ही निपटा लो और आज करो उसे तुरन्त कर डालो, पता नहीं पल में क्या हो जाय, रहो या न रहो, समय बहुत कम है। खाने-पीने और सोने में ही समय नष्ट न कर कुछ 'सुकृत' कर लेने को कहा।

---

162 डॉ0 गोपाल सिंह- गुरु गोविन्द सिह, पृ० 70

163 (सं0) एच0सी0 वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ० 485 (देखें समतामूलक समाज के सम्बन्ध में)

164. साई इतना दीजिए, जामै कुटुम समाय। मैं भी भूखा न रहू साधु न भूखा जाय।। (कबीर)

165. डॉ0 माता प्रसाद गुप्त - कबीर ग्रन्थावली, पृ० 97, वेसास को अंग, साखी-2

166. डॉ0 माता प्रसाद गुप्त - कबीर ग्रन्थावली, पृ० 99, वेसास को अंग, साखी-10

रहे, रविदास जूते बनाता रहा, धन्ना खेती करता रहा तथा नामदेव के बारे में प्रसिद्ध है कि हाथ-पैर से काम करते हुए भी उसका ध्यान भगवान् की भक्ति में ही लगा रहा। नानक भी तो मोदी खाने में तोलने का कार्य करते थे। 'भले ही वे जाति-प्रथा को जड़ से न उखाड़ सके तथापि इसके विरोध ने यह सिद्धकर दिया कि रामानन्द निम्न वर्गों के व्यक्तियों को गुरुमंत्र देकर भी अमर हो गये, कबीर ठोकर खाकर भी उनके शिष्य बने, रविदास ने चमार होकर भी ब्राह्मण के साथ भोजन ग्रहण किया, भगवान् ने जाट धन्ना का अन्न ग्रहण किया, नामदेव के लिए मन्दिर का द्वार ही घूम गया और नाई सेन के स्थान पर खुद भगवान् राजा की सेवा कर गये।[167] अपने व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से इन संतों ने सिद्ध कर दिया कि मानव अपने सत्कर्मों एवं प्रयत्नों से महान् होता है, चाहे वह किसी भी कुल या व्यवसाय का क्यों न हो।

रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारिदै, ओछे करम की नीच।।[168]

इस प्रकार संतों का प्रभाव एक व्यावहारिक गृहस्थ तथा कर्ममय जीवन के माध्यम से समाज के लिए चुनौती रहा।[169] इस प्रकार समाज पर भार बने हुए तथा-कथित योगियों की अकर्मण्यता से पारिवारिक कर्मण्य-जीवन जीकर जनता को गुमराह एवं निष्क्रिय होने से बचाकर समाज का बड़ा हित किया। आज समाज में धन के अर्जन की अन्धी होड़ लगी है। कम मेहनत में कम समय में धन्ना सेठ होने की प्रवृत्ति (Quick Rich Mentality) ने भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। लोभ, लालच में पड़कर व्यक्ति स्वार्थी हो गया है और अच्छे-बुरे सारे आचरण करता है। मेहनत की कमाई पर अब भरोसा नहीं रहा, ऊपरी कमाई में आस्था बढ़ी है, जिसने देश को

---

167. (सं0) एच0सी0 वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ0 494
168. आजकल (मासिक) अंक दिसम्बर, 2000 (मे दलित साहित्य की वैचारिक संरचना' लेख से उद्धृत) पृ0 6
169. एच0सी0 वर्मा- मध्यकालीन भारत, पृ० 494

आर्थिक घोटालों में फँसा कर तबाह कर दिया है। ऊपर से नीचे तक पूरा समाज भ्रष्टाचार– आर्थिक भ्रष्टाचार में डूबा हुआ है। संतों की शिक्षाएँ आत्मसंयम, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह, आत्म-संतुष्टि, मनोविकारों पर नियंत्रण, सदाचरण, माया-निन्दा आदि-राष्ट्रीय एकता को खोखला एवं कमजोर कर देने वाली प्रमुख बुराइयों में एक भ्रष्टाचार को नियंत्रित कर सकती हैं। केवल कानून से कुछ नहीं होगा, यह हम देख चुके हैं। समाज को ही पहल करनी होगी। जिसमें 'तृष्णा' को सीमित करना होगा जो कि सभी बुरे कार्यों की जड़ है। भौतिक सुखों की नश्वरता के साथ आध्यात्मिकता का समन्वय करना होगा क्योंकि, 'सुख सम्पत्ति कुछ साथ न गयो' और जब ऊपर वाले की पुकार आती है तो 'माया मन्दिर छाड़ि चले'। ये संत-कवि 'मांगि के खैवो और 'मसीत में सोइवो' वाले महात्माओं में से भी नहीं थे, क्योंकि मेहनत एवं सदाचरण से परिवार का भरण-पोषण करने वाले सच्चे संत थे। वे तृष्णाएँ कुचलकर पूर्ण मनः तोष का अनुभव करते थे। उन्होंने गृहस्थ-जीवन की पवित्रता एवं प्रतिष्ठा स्थापित करने की प्रेरणा दी।

### (4) शिक्षा एवं भाषायी चेतना :

संत-काव्य में संस्कृत-भाषा एवं संस्कृत-शिक्षा, वेद-पुराण आदि के प्रति विरोध का स्वर मिलता है। संस्कृत-भाषा पढ़ लेने भर से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता।

> संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहोरी।
> आसा तृस्ना में बहि गयो सजनी, काम के ताप सहोरी।
> मान मनीकी मटुकी सिर पर, नाहक बोझ मरोरी।
> मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहोरी।।[170]

दरअसल, विरोध तो उन पंडितों से था जो वेदों को पढ़कर भी तद्नुसार आचरण नहीं करते थे और अपनी सुख-सुविधा के अनुसार उन वेदादि शास्त्रों की गलत

---

170 कबीर, पृ० 218

व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसे ढोंगियों की उपमा कबीर ने चंदन ढोने वाले गधे से दी है, जो उसका भार तो ढोता है, किन्तु उसकी सुगन्ध से वंचित रहता है-

वेद पुरान पढ़त अरू पाड़े, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाही, अति पड़े मुखि छारा।।[171]

धर्म के नाम पर जीव-हिंसा करते हो और ऐसा करके भी मुनिवर कहलाते हो तो फिर कसाई किसे कहते हैं। दूसरों को धर्म, सदाचरण, अहिंसा, अद्वैतवाद का उपदेश देने वाले खुद विधर्मी, दुराचारी, हिंसक और छूआछूत से ग्रस्त इन पढ़े-लिखे लोगों से एवं उनके ऐसे शास्त्र से भी संतों को नफरत हो गयी। अकड़ शास्त्रज्ञान की किन्तु आचरण एकदम शास्त्र-भिन्न :

पण्डित चारों वेद पढ़े।
गीता ज्ञान भागवत् बांची, जॅह मछरी तँह लेत खड़े।
भोजन करि जिजमान जिमाएं, दक्षिना कारण जाय अड़े।
बकरा मार भवानी पूजे, मूंड़ टका विनु गाज पड़े।
ब्रह्म चीन्ह सोइ बाभन कहिऐ, गजब जहन्नुम जाये गड़े।
–तुलसी साहब की शब्दावली, पृ० 189

यही कारण है कि उन्होंने ऐसी पढ़ायी बन्द करने की बात कही तथा "पुस्तक देउ वहाय' अर्थात् ऐसी पुस्तकें जो मानव-मानव को बाटती है और भेद-भावजन्य घृणा, कलह, वैमनस्य पैदा करती हैं, उन्हें फेंक देना ही उचित है। ऐसी 'पोथी' की जगह कबीर ने तो 'ढाई आक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' की बात कही। संतों ने देखा की 'कागद की लेखी' से समस्या सुलझने की बजाय उलझती है। अतः उन्होंने 'आंखिन देखी' 'सुरझावनहारी' बात कही। उन्होंने अनुभूतिजन्य सत्य की शिक्षा दी और बताया कि 'साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय'। सतगुरू के समान कोई 'सगा' नहीं है, ज्ञान के समान कोई दान नहीं है, हरि के समान कोई हितैषी नहीं है तथा 'हरिजन' (भक्ति)

---

171. कबीर ग्रन्थावली, पृ०39

के समान कोई जाति नहीं। कहने-सुनने पर 'पतियाने' की जगह खुद उसे देखो-समझो। सज्जनों की संख्या बहुत कम होती है। सब कुछ अन्दर ही है। बाहर जाने की, भेष बनाने की जरूरत नहीं तथा सहजता को जीवन में उतार लो। सभी में एक ही सत्ता है। कोई भेदभाव नहीं है-'आपा पर समचीन्हिये तब दासै सर्व समान।' प्रेम को जीवन में, हृदय में, बसा लो, यही सर्वस्व है जो आदमी को आदमी बनाता है। लेकिन प्रेम कही बाहर हाट-बाजार में नहीं बिकता, अपितु बलिदान, परम त्याग माँगता है। वास्तव में कोरा पुस्तकीय (शास्त्रीय) ज्ञान केवल अपना उदर-भरण तो कर सकता है, मगर किसी का कल्याण नहीं। क्या आज भी यही नहीं कहा जा सकता? पुस्तकीय शिक्षा से स्वार्थी, दम्भी, लोभी, आत्मकेन्द्रित, हिंसारत पीढ़ी ही तो पैदा हो रही है जो भौतिक सुखों के लिए राष्ट्र का सौदा करने से भी नहीं बाज आती। इसीलिए आज नैतिक शिक्षा की बात चल रही है किताबी ज्ञान के साथ-साथ। संतों ने ऐसी नैतिक, आध्यात्मिक शिक्षा की ही बात कही, जिसमें 'लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात। (कबीर)।

देशवासियों में राष्ट्रीय भावना अथवा दृष्टिकोण के निर्माण में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण हाथ है। बचपन से ही उनमें राष्ट्रीय भावना, उदारता, सहिष्णुता तथा त्याग शिक्षा के द्वारा ही समाविष्ट किये जा सकते हैं।[172] विवेकानन्द का मन्तव्य था कि सभी प्रकार की शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए मानव का सम्यक् विकास। अतः हमें मानव का निर्माण करने वाला धर्म चाहिए, मानव का निर्माण करने वाली शिक्षा चाहिए।[173] जाहिर है संतों ने ऐसी ही शिक्षा दी यह अलग बात है कि उनमें से अधिकांश शिक्षक विद्यालय के पढ़े लिखे नहीं थे, वैसे स्कूल-कालेज में यह शिक्षा है भी नहीं। संतों की दृष्टि बड़ी सामयिक एवं आधुनिक थी। आधुनिक भारत के पिता राजा राम मोहन राय ने भी 'संस्कृत शिक्षा को भारतीय अन्धकार दूर करने में असमर्थ बताया।'

---

172 हरिवंश तरूण- भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ० 201

173 स्वामी विवेकानन्द एज्यूकेशन, पृ०7 तथा 8

लोकतंत्र में जनता का शासन होता है, अतः उसके कामकाज एवं सम्पर्क की भाषा भी जनता की भाषा जनभाषा ही होनी चाहिए। "प्रत्येक समुन्नत, स्वतंत्र, स्वाभिमानी देश की अपनी राष्ट्र-भाषा है- इग्लैण्ड, अमरीका, फ्रांस, रूस, चीन, जापान सभी देशों में वहाँ की व्यापक बहुप्रचलित भाषा राष्ट्र भाषा के रूप में व्यवहृत होती है।"[174] आयरिश कवि टामस डेविस ने कहा है कि कोई राष्ट्र अपनी मातृभाषा को छोड़कर राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्रभाषा की रक्षा सीमाओं की रक्षा से भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि वह विदेशी आक्रमण को रोकने में पर्वतों और नदियों से अधिक समर्थ है।[175] वस्तुतः राष्ट्रभाषा के साथ जनता का भावात्मक लगाव होता है, क्योंकि उसके साथ जनसाधारण की सांस्कृतिक परम्परायें जुड़ी रहती हैं। गांधी जी : "मेरा यह मत है कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है और होनी चाहिए। वे कहते थे कि "हिन्दी का प्रश्न स्वराज का प्रश्न है। अगर स्वराज करोड़ों भूखों मरने-वालों, निरक्षरों और दलितों तथा अन्त्यजों का हो और उन सबके लिए होने वाला हो तो हिन्दी ही एक मात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है।"[176] राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रभाषा पर्यायवाची हो गये तथा गांधी को स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान देश को एक करने में भारी सफलता भी मिली। संतों ने इसी देशभाषा-राष्ट्रभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाया। यदि अधिक से अधिक संख्या में अपने मंतव्य का सफल प्रचार करना है तो देश भाषा का ही आधार लेना होगा इसे स्वामी रामानन्द ने भली-भांति समझा था। सबसे पहले तो इस सिद्धान्त को समझने का श्रेय महात्मा बुद्ध को है जिन्होंने संस्कृत के स्थान पर तत्कालीन देश भाषा पाली में अपने सिद्धान्त प्रकाश करने का निश्चय किया। संस्कृत पंडितों की भाषा थी जिसे पढ़े-लिखे विद्वान् ही समझ सकते थे, परन्तु रामानन्द आदि (महापुरुष) सर्व-साधारण के कल्याण की अभिलाषा रखते थे। इसके लिए सर्वसाधारण में प्रचलित कथित भाषा का प्रयोग ही ठीक माना, वह साहित्यिकों को भले ही गंवारू या असुन्दर

---

174 डॉ0 हरदेव बाहरी- हिन्दी भाषा, पृ0 149

175. डॉ0 हरदेव बाहरी- हिन्दी भाषा, पृ0 149

176 डॉ0 हरदेव बाहरी- हिन्दी भाषा, पृ0 155

जंचे इसकी उन्हें परवाह नहीं थी।[177] रामानन्द ने संस्कृत-विद्वान् होकर भी जनभाषा को अपनाया, परन्तु अधिकांश निर्गुण संत-कवि निरक्षर थे। अतः अग्रशोचिता एवं विवशता दोनों ही थी। वस्तुतः संस्कृत कभी भी इस राष्ट्र की राष्ट्रभाषा नहीं रही 'राजभाषा की बात नहीं कह रहा हूँ।' निरक्षर भोलीभाली अनपढ़ जनता से भावनात्मक सम्पर्क जनभाषा में ही हो सकता है। अतः संतों ने उन्हीं की भाषा में बातचीत किया तथा संस्कृत को 'कूप जल' कहा और जन भाषा को बहने वाला शीतल नीर कहा-

'संस्कृत कूपजल कबीरा, भाषा बहता नीर।
जब चाहौ तब ही डुबौ, सीतल होय शरीर।।[178]

संतों ने (सुन्दर को छोड़कर) आभिजात्य का सर्वथा निषेध किया है। संत-कवि भाषा को सार्वजनिक बनाने के पक्षपाती थे। रज्जब जी के विचार से प्राकृत संस्कृत का मूल है तथा उसी ने संस्कृत को जन्म दिया। भाषा वृक्ष का मूल और शिखा प्राकृत को बताया तथा संस्कृत को बीच का खण्ड सिद्ध किया:-

आदि जू प्राकृत मूल है, अंत पराकृत पान।
रज्जब विचि वृक्ष संस्कृत, फ्ल रथ कौने थान।।[179]

प्राकृत सूर्य के समान है तथा संस्कृत में लिखे गये वेद नेत्रों के समान हैं परन्तु जिस प्रकार सूर्य के बिना नेत्र व्यर्थ हैं उसी प्रकार प्राकृत के बिना संस्कृत शक्तिहीन है। संस्कृत अपने बीज रूप में प्राकृत ही थी-यह परिवर्तन तो बाद में हो गया और अंत में वे प्राकृत एवं संस्कृत दोनों को मिथ्या मानते हैं, यदि उनमें राम-नाम की महिमा का वर्णन नहीं है-

'कहा पराकृत संस्कृत, राम बिना वे काम।'[180]

वस्तुतः संत जनता के आदमी थे और उन्हीं की भाषा जनभाषा में बोलते थे। भाषा के क्षेत्र में संतों ने 'संस्कृत के देववाणी होने और सभी आर्यभाषाओं की जननी

---

177 हिन्दी संत-काव्य - संग्रह (भूमिका), पृ० 39

178 हिन्दी संत-काव्य - संग्रह (भूमिका), पृ० 40

179 डॉ0 व्रजलाल वर्मा-संत-कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य) से उद्धृत, पृ० 225

180. डॉ0 व्रजलाल वर्मा-संत-कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य) से उद्धृत, पृ० 225

होने के भ्रम को तोड़ा।' सभी संतों ने अपने-अपने क्षेत्र की जनभाषाओं को तो अपनाया ही, साथ ही उन्होंने देशाटन से अर्जित व्यापक भाषायी चेतना को भी अपनाया। उनकी भाषा में हिन्दी का अन्तरप्रान्तीय रूप मिलता है, जिसे गांधी जी के शब्दों में 'हिन्दुस्तानी' कह सकते हैं, जिसमें हिन्दी की मूलभाषा के साथ-साथ अन्य प्रान्तों की भाषाओं के शब्द भी उपस्थित हैं। यह संतों की व्यापक राष्ट्रीय चेतना का परिचायक है।

## (5) पर्यटन एवं भ्रमणशीलता :

प्रायः सभी संत एक स्थान से दूसरे स्थान, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में आते जाते रहे थे। वे बड़े भ्रमणशील जीव थे। यही कारण है कि उनमें कूप-मण्डूकता नहीं है उनके विचारों में ताजगी है, प्रेरणा है : स्वतः स्फूर्त स्पन्दन है और व्यापक सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक एवं आर्थिक अनुभव व्याप्त है। वे क्षेत्रीयता से ऊपर उठ सके तथा भाषायी संकीर्णता एवं ज़ाति-विशिष्ट की सीमा से ऊपर उठ सके। प्रायः समूचा उत्तर-भारत संतों की धड़कन से जुड़ा था। नानक ने तो विदेश की यात्राएँ भी की थी। इस प्रकार संत घूम-घूम कर सत्संग किया करते थे। यही कारण है कि वे अपने समय के लोगों की नश-नश से वाकिफ थे और सभी की बुराइयों पर प्रहार कर सके। उनके देशाटन से क्षेत्रीयता संकुचित हो सकी और जनता उनसे सम्पर्क कर सकी और अपना आदर्श मान सकी। आज भी पर्यटन को जिन अनेक उद्देश्यों से बढ़ावा दिया जा रहा है, उनमें सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता के संवर्धन का भी एक लक्ष्य है। "नियोजन और प्रयासों के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण यह है कि पर्यटन को मध्यवर्गीय संस्कृति बनाया जाय जिससे घरेलू जनसंख्या गतिशील होगी और यह पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को विलय करने में सहायक होगी।"

## अध्याय-6

# वर्तमान संदर्भ में संतमत की प्रासंगिकता और उपयोगिता

महान् व्यक्तित्व जाति, धर्म एवं क्षेत्र की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखे जा सकते। उनका प्रयास मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये होता है और इस प्रयास में ऐसे शाश्वत मानव-मूल्यों की स्थापना होती है जिन्हें हर युग में प्रासंगिकता प्राप्त होती है। विकट परिस्थितियों में समाज उनका उपयोग कर उनकी प्रासंगिकता पुनः -पुनः स्थापित करता है। वस्तुतः ऐसे महामानव, संत, युगचेता, विचारक और भविष्यद्रष्टा अपनी सार्वकालिक एवं सार्वजनीन दृष्टि के कारण हर युग में प्रेरणा-स्रोत बने रहते हैं। यही कारण है कि मध्य-युग में इन संतों की कही गयीं जनकल्याणकारी वाणियाँ आज भी उतनी ही ताजगी एवं प्राणशक्ति लेकर प्रासंगिक बनी हुई हैं। संतों का तद्युगीन समाज अनेक बुराइयों वं अन्धविश्वासों से जकड़ा हुआ था और वर्तमान समाज भी उनसे मुक्त नहीं है, अपितु और अधिक विकारयुक्त है। सच तो यह है कि हमारा समाज जितना विभाजित आज है, पहले कभी नहीं रहा। जुड़ने की बजाय हम बिखरे हैं और जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय, अगड़ा-पिछड़ा, सवर्ण-दलित, और क्षेत्रीयता के आधार पर नई पहचाने आज सबसे ऊपर हो गयी हैं। परिवार बिखण्डन के कगार पर है और परिवार के वृद्धों को भगवान् भरोसे छोड़ दिया गया है। हम 'अन्तर्राष्ट्रीय परिवार वर्ष' और वृद्धों की देखभाल के लिए उनको समर्पित वर्ष मनाने को बाध्य हो रहे हैं। उदारीकरण और निजीकरण के युग में आर्थिक गैरबराबरी और भी बढ़ती जा रही है। राजनीति का अपराधीकरण एवं बाजारीकरण हो गया है। सभी मूल्यों को अर्थ एवं वैभव की प्यास रौंदे डाल रही है। आज देश में सब कुछ विकाऊ हो गया है। राष्ट्र में इस समय, जैसा कि सुभाष काश्यप ने कहा है, चरित्र का सबसे बड़ा संकट है। साम्प्रदायिकता की बारूद किसी समय विस्फोट कर सकती है, राष्ट्र के अस्तित्व को संकट में डाल सकती है। इस

प्रकार 'मण्डल-कमण्डल, एवं उदारीकरण के इस वर्तमान समय में संत-मत की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता क्या है। इस संदर्भ में प्रो० मैनेजर पाण्डेय का संतमत के प्रवर्तक और प्रतिनिधि कवि कबीर के सम्बन्ध में दिया गया वक्तव्य उद्धृत करना उचित होगा : "आज के भारतीय समाज में उग्र साम्प्रदायिकता की आँधी चल रही है। धर्म के नाम पर घृणा, द्वेष और उन्माद का प्रचार-प्रसार हो रहा है। जाति-भेद खूँखार जाति-युद्ध बन रहा है। तरह-तरह के दुराग्रहों, कट्टरताओं और संकीर्णताओं का बोलबाला है। स्थिति इतनी भीषण हो गयी है कि कबीर की कई साखियाँ जलाई जा रही है। यह सब देखकर मन में कई सवाल उठते हैं। क्या हम उसी समाज में है जिसमें कभी कबीर पैदा हुए थे? क्या हम भारतीय समाज के उत्तर-कबीर-युग में जी रहे हैं? ऐसे समय में कबीर को याद करना स्वाभाविक हैं और जरूरी भी। कबीर जिस समय भारतीय समाज में पैदा हुए थे, वह बहुत उथल-पुथल का समय था। उसमें संस्कृति, धर्म और विचार की अनेक तेज धाराएँ परस्पर टकरा रही थीं। एक ओर हिन्दू समाज की भेदभाव पर आधारित जाति-व्यवस्था की संरचना थी, उस संरचना की शक्ति का स्रोत शास्त्रीय धर्म थ, उस संरचना और धर्म के विरूद्ध विद्रोह करते हुए आगे आए बौद्ध, जैन, शाक्त, सिद्ध और नाथ आदि धर्म तथा मत थे। दूसरी ओर इस्लाम था जिसमें उग्रता थी। उसमें धार्मिक स्तर पर समानता के बावजूद सामाजिक विषमता थी। उसके विरूद्ध प्रेम की पीर का संदेश देने वाले सूफी संत थे। साधारण जनता इस भँवरजाल मे फँसी हुई थी। हिन्दू जनता जिस तरह जाति-व्यवस्था के भेदभाव और धार्मिक कर्मकाण्ड की चक्की में पिस रही थी, उसी तरह मुस्लिम जनता इस्लाम की कट्टरता और कर्मकाण्ड की चक्की में। इन दोनों के ऊपर राजसत्ता और शोषण का चक्र चल रहा था। ऐसी सर्वग्रासी चक्की में पीसी जाती हुई जनता को देखकर कबीर ने कहा होगा[1] :

---

1. मैनेजर पाण्डेय-कबीर और आजका समय, आलोचना, त्रैमासिक, सहस्राब्दि अक एक, अप्रैल-जून, 2000, पृ0 275

चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।

उस कठिन समय मे भारतीय मनुष्य की मनुष्यता खतरे में थी। ऐसे समय में एक ऐसे व्यक्ति की जरूरत थी जो उस काल के भारतीय समाज की समग्रता को जानता हो, हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों की वास्तविकता को पहचानता हो और लोक धर्म के भ्रमों से भी परिचित हो। साथ ही मनुष्य की मनुष्यता में जिसकी अटूट आस्था हो, ऐसे ही व्यक्ति थे। कबीर यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कबीर को 'मुक्तिदूत' और 'भारत-पथिक' कहा था और उन्हें राजा राममोहन राय का 'अग्र-पथिक' घोषित किया था। प्रो० मैनेजर पाण्डेय का कथन सही है कि 'कबीर केवल अपने युग की नयी चेतना के जागरण के प्रेरणा-स्रोत ही न थे, वे आधुनिक भारतीय नवजागरण की चिन्तनधारा में जो कुछ देशज, उदार, अग्रगामी और जनोन्मुख है, उसके निर्माण में कबीर की कविता की महत्त्वूपर्ण भूमिका है।[2] यही बात समूचे संतमत के साथ भी लागू होती है जिसमें आज के समाज के अनेक प्रश्न और उनके उत्तर छिपे हुए हैं।

## (क) वर्तमान जातिवाद और संतमत :

आज आन्तरिक विघटन, पारस्परिक वैमनस्य एवं सामाजिक अशान्ति के पीछे जातीयता तथा सामाजिक विषमता का बहुत बड़ा हाथ है।[3] मध्यकालीन समाज में जो जातीय विषमताएं व्याप्त थी वे कमोवेश वर्तमानसमाज में भी अपनी क्रूर छबि दिखा रही है जिससे सामाजिक संसक्ति ढीली पड़ती जा रही है और राष्ट्रीय एकता को अत्यन्त क्षति पहुँच रही है। सारा राष्ट्र इस जाति-वाद के जहरीले घूट निगल रहा है। ब्राह्मण-शूद्र की जो खाईं संत-युगीन समाज मे थी, वह आज भी बरकरार है, और चौड़ी ही हुई है। सामाजिक न्याय आज भी काफी दूर है। ब्राह्मण-जाति मध्यकालीन समाज में सर्वोच्च थी और आज भी अपनी जातीय सर्वश्रेष्ठता का दम्भ भरती है। ज्ञान-विज्ञान

---

2. मैनेजर पाण्डेय-वही लेख, पृ0 278

के इस आधुनिक समय में भी छुआ-छूत बनाये हुए है और वे तथाकथित निम्न व अछूत जातियों को हेय दृष्टि से देखते हैं यहाॅ तक कि उनमें से अधिकांश अभी भी शूद्रों का छुआ अन्न और पानी अपवित्र मानकर ग्रहण नहीं करते। समाचार-पत्रों में बहुधा सुनने को मिलता है कि अमुक हरिजन अधिकारी के स्थानान्तरण के वाद उसकी जगह लेने वाले ब्राह्मण अधिकारी द्वारा कार्यालय की उस कुर्सी को गंगाजल से पवित्र कराया गया, जिस पर उसका पूर्ववर्ती हरिजन अधिकारी बैठता था। यह मन·स्थिति है आधुनिक शिक्षा प्राप्त सर्वोच्च अधिकारियो की जिन्हें समाज-कल्याण सम्बन्धी नीतियों एवं निर्णयों को कर्यान्वित करना होता है। जब नागर लोगों का यह हाल है, तो गाँव की बदसूरती का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, जहाँ आज भी सर्वाधिक निरक्षरता, भुखमरी और आर्थिक शोषण व्याप्त है। सबसे क्रूर रूप, जातिवाद एवं छुआछूत का, गाँवों में देखा जा सकता है। यहाॅ खान-पान और आसन में साफ भेदभाव किया जाता है। कोई हरिजन ब्राह्मणों के साथ न तो खा सकता है और न चारपाई पर बैठ सकता है। छुआ-छूत का यह आलम है कि ये उच्च जातियों के लोग कुत्ते-बिल्लियों द्वारा बर्तन-भाड़े छू जाने पर तो उन्हें नहीं त्यागते हैं, मगर शूद्र की परछाही या हाथ के छू जाने पर उन बर्तनो को बेच देते हैं या अग्नि में शुद्ध करते हैं अथवा उस बर्तन को एक स्थान पर शूद्र के पुर्नप्रयोगार्थ रख छोड़ते हैं। बिल्ली का जूठा तो खा-पी सकते हैं परन्तु हरिजन का छुआ तक नहीं स्वीकार, यानी पशु से भी बदतर उसकी स्थिति? ऐसे ढोंगी जातिवादियों की आज मानवतावादी प्रगतिशील लोग निन्दा करें और उन्हें पशु माने तो यह उचित ही है। इस सन्दर्भ में संतमत अत्यन्त प्रासंगिक है जिसका उपयोग आज भी जातीय वैमनस्य दूर करने में किया जा सकता है। कबीर पण्डित से पूंछ्ते हैं- ''छूत कहाँ से आ गई? पवन, वीर्य और रज के सम्बन्ध में गर्भाशय में गर्भ रहता है। फिर वह अष्टकमलदल के नीचे से उतरकर पृथ्वी पर आता है, ऐसी हालत में यह छूत कैसे आ गई? यही वह धरती है जिसमें चौरासी लाख योनि के प्राणियों का शरीर सड़कर मिट्टी हो गया। इस एक ही पाट (पीढ़ा) पर परमपिता ने सबको बिठाया है तो फिर छूत कैसे रही? अन्न और जल जिसका भोजन और पान किया जाता है, गंदगी से

संयुक्त है और सारे संसार के मूल द्रव्य रज-वीर्य, गोबर आदि गंदे हैं। इसी छूत से सभी उत्पन्न हैं। अतः छूआछूत का भेदभाव निरर्थक है। कबीर कहते हैं कि वास्तव में छूत से वही लोग परे हैं, जिन पर माया का प्रभाव नहीं है :

> "पंडित देखहु मन में जानी।
> कहु धौं छूति कहाँ से उपजी, तबहिं छूति तुम मानी।।
> नादे बिन्दु रुधिर के संगे, घटही में घट सपचै।
> अस्ट कमल होई पुहमी आया, छूति कहाँ से उपजै।
> लख चौरासी बाना वासन, सो सब सरि भौ माटी।
> एकहि पाट सकल बैठाए, छूति लेत धौं काकी।
> छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जग उपजाया।
> कहैं कबीर ते छूति विवरजित, जाके संग न माया।।"[3]

ब्राह्मणों में अनादिकाल से यह परम्परा रहती है कि जब तक जनेऊ धारण नहीं करता, उसमें ब्राह्मणत्व नहीं आता। जनेऊ जैसे ब्राह्मणत्व की एक अनिवार्य शर्त है और इस पर ब्राह्मणों का एकाधिकार सा हो गया है। संतमत समाज को इसकी व्यर्थता-बोध कराने में आज भी समर्थ है। तीन तांगे पर टिकी इस मिथ्या 'बभनई' की बखिया उधेड़ते हुए संत पलटूदास कहते हैं-

> 'पाड़े जी तीन ताग तुम नाए, बभनौ को क्या तुम पहिराये।
> तुम्हरे तन में दूध जो निकरे शूद्र के निकरे लोहू।
> इहै परीक्षा दीजै पाड़े तब तुम बाभन होहू।
> शूद्रिन मेहर घर के भीतर, नित उठि करै रसोई।
> तिकरे किहा खाऊ तुम पाड़े, सकल बभनई खोई।।'[4]

स्त्री का कभी जनेऊ होता ही नहीं, अतः पलटू साहब पूछते है कि तब तो वह शूद्र ही रही, क्योंकि शूद्र जनेऊ नहीं पहन सकता, जिसका बनाया भोजन करते हो तब तो सारी बभनई (ब्राह्मणत्व) नष्ट हो गयी।

---

3. कबीर वाड्मय खण्ड-2 : सबद 166, पृ0- 207 208
4 पलटू साहब की शब्दावली- पृ0-142

यह जात-पॉत, छूआ-छूत का भेदभाव केवल ब्राह्मण-शूद्र तक ही नहीं सिमटा रहा, अपितु अन्य छोटी जातियॉ भी इस रोग से पीड़ित है। ये निम्न जातियाँ भी आपस मे एक नहीं हैं। वे भी कर्म की अपेक्षा जाति को ही महत्त्व देते हैं। जिस देश में मनुष्य, मनुष्य नहीं होकर ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, कुरमी या कहार समझा जाता हो, जिस देश के लोग अपनी भक्ति और प्रेम पर पहला अधिकार अपनी जात वालों का समझते हो और जिस देश की एक जाति के लोग दूसरी जाति के विद्वान् को मूर्ख, दानी को कृपण, बली को दुर्बल, सच्चरित्र को दुश्चरित्र और अपनी जाति के मूर्ख को विद्वान् और पापी को पुण्यात्मा समझते हों, उस देश की स्वतन्त्रता और समृद्धि के विषय में यही कहा जा सकता है कि ''रहिबे को आचरज है, गयी तो अचरज कौन''।[5] 'अन्य जातियों में भी जातिगत विषमता की मानसिकता को जन्म देने वाले भी ब्राह्मण ही हैं।

हिन्दुओं की जात-पांत सम्बन्धी रूगण मानसिकता का शिकार मुसलमान भी है। उनमें भी शेख, सैयद, मुगल पठान, सुन्नी-शिया, जुलाहा, दफाली, कुजड़ा आदि जातियाँ बन गयी। इस प्रकार भ्रातृत्व एवं बन्धुत्व की बुनियाद पर जन्म लेने वाला इस्लाम भी इस ऊँच-नीच की भावना से बरी नहीं है। शिया-सुन्नियों के बीच श्रेष्ठता को लेकर विवाद चलता रहता है। मुसलमानों में यह मान्यता है कि जब तक शेख-द्वारा मुसलमानी नहीं होती, तब तक व्यक्ति में शुद्धता नहीं आती। मुसलमानों की इस विसंगति एवं जाति सम्बन्धी उनकी मिथ्या मान्यता पर प्रहार करते हुए पलटूदास कहते हैं-

शेख की सुन्नति से मुसलमानी भई,<br>
सेखानी को नाहि तुम कहौ सेखा।।<br>
आधी हिन्दुइनि रहै घरे के बीच में,<br>
पलटू अब दुहुन के मारु भेखा।।[6]

वस्तुतः जातिवाद से उपजी गैरबराबरी, ऊँच-नीच की भावना आज जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त है। खान-पान, रोजी-रोटी, विवाह-संस्कार आदि सभी क्षेत्रों में यह

---

5. संस्कृति के चार अध्याय, पृ() 265
6. संत सुधार सार द्वितीय खण्ड, पृ0- 243

विषमता देखी जा सकती है। आजादी के 53 वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी हमारा देश जातिवाद के चंगुल से अपने को स्वतंत्र नहीं करा सका है। लोकतान्त्रिक सरकारे जातिवादी राजनीति को शह दे करके जातियों को अपने वोट बैंक की तरह इस्तेमाल कर रही हैं। अब तो ठाकुर, बामन, जाट, यादव, कुरमी, चमार, पासी सदृश जातियों के राजनीतिक नेता पैदा हो गये हैं जो अपनी-अपनी जाति या जातियों की बात करते हैं। सामाजिक न्याय की बात होने पर सवर्णजातियाँ निम्न जातियों के खिलाफ लामबन्द होने लगती है। फलतः समाज में एक और बिखण्डन अगड़ा-पिछड़ा, हरिजन-गिरिजन, भूमिहीन-भूस्वामी, किसान-मजदूर के रूप में होता दिखायी पड़ रहा है। जातिगत विषमता के निवारण का आरक्षण सम्बन्धी प्रयोग भी कारगर नहीं हो रहा है। जातिवाद के इस चक्रव्यूह को तोड़ने में संतमत के अलावा अन्य कोई विकल्प हमारे पास नहीं है। 'आपा पर समिचीन्हिये तब दीसै सरबसमान' 'साई के सब जीव है कीरी कुंजर दोय', 'हरि को भजै सो बड़ा है, जाति न पूछै कोय', 'जाणहु जोति न पूछहुं जाति' इत्यादि वाणियाँ वर्तमान संदर्भ में भी उतनी ही प्रासंगिक एवं उपयोगी है जितनी उनके समय में रही, क्योंकि उन्होने मानव-मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और धर्मोपासना के लिए सबके लिए समान अधिकार की मांग की।

## (ख) वर्तमान धार्मिक अशांति और संतमत :

संतों के समय देश में हिन्दू और इस्लाम दो ही मुख्य धर्म थे और इन्हीं दोनों के अनुयायियों में ही टकराव एवं संघर्ष व्याप्त था, किन्तु आज हालत और भी बदतर है। आज सिक्ख धर्म और इसाई धर्म भी इसमें शामिल हो गये है। धार्मिक विद्वेष की आग वर्तमान समाज को जला रही है और सारा राष्ट्र इसकी आँच में झुलस रहा है। कट्टर धार्मिकता की कोख से ही साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। यह समप्रदाय-विशेष अथवा धर्म-विशेष के अनुयायियों के मानस को विषाक्त एवं विकृत बना देती है तथा इसके प्रभाव में विषाक्त मानस वाले तत्व घृणित एवं अमानुषिक कृत्य करने से भी नहीं

हिचकते।[7] आजादी के 53 वर्षों के बाद भी और सम्बैधानिक धर्मनिरपेक्षता की अर्द्धशती के बाद भी हमारे राष्ट्रीय जीवन में साम्प्रदायिकता का जहर व्याप्त है जिसकी परिणति हिंसक दंगों के रूप में होती रहती है। आज भी मन्दिर-मस्जिद के प्रश्न पर सारा राष्ट्र साम्प्रदायिकता की गिरफ्त में आता दिखायी देता है। अयोध्या की उक्त इमारत के ध्वस्त होने के बाद की विषाक्त पीड़ा से समाज कराह रहा है।[8] धर्म की आड़ में राजनीतिक रोटियां सेंक रहें हैं राजनीतिक दल? इस अयोध्या मसले का समाधान अभी तक नहीं हो पाया है। इस संदर्भ में संतमत हमारी सहायता कर सकता है। कबीर का यह उपदेश कितना प्रासंगिक एवं उपयोगी है:

मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया कर्म में, न ही योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौ, पलभर की तलास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।।[9]

अतः धर्म को लेकर मन्दिर-मस्जिद के नाम पर निर्दोष लोगों का खून बहाना उचित नहीं है। संतमत ने धार्मिक आडम्बरों एवं कर्मकांडों की तीखी आलोचना की है। धर्म के नाम पर जोर से 'अल्लाह हो, अल्लाह हो[10] चिल्लाना तथा 'हनुमान चालीसा' या 'रामचरित मानस' का वाद्ययंत्रों के साथ जोर-जोर से पाठ करना आदि की निन्दा करते हुए उन्होंने बताया कि भगवान् बहरा नहीं है। उसके कान बड़े ही संवेदनशील है। वह चींटी के भी चलने की ध्वनि सुनता है । अतः चिल्लाने एवं धर्म की डफली लेकर भागने-फिरने से कोई हित नहीं होने वाला। आवश्यकता है ईश्वर के सही रूप को समझने एवं अनुभूति करने की।

---

7. भारत की राष्ट्रीय एकता, पृ0- 138
8. बाबरी मस्जिद, राममन्दिर, (ढाँचा 6 दिसम्बर, 1992 को ढहाया गया)
9. कबीर (कबीर-वाणी), पृ0-179
10. हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर (कबीर - वाणी), पृ0-179

हिन्दू-मुस्लिम, सिक्ख-ईसाई सभी को बाह्य पूजा की जगह आन्तरिक, मानसिक पूजा करनी चाहिए। वस्तुतः धर्म की विषमताओं के मूल में आज कृत्रिमता और बाह्याडम्बर ही है। इन आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों में धर्म का उज्ज्वल पक्ष ढक गया है। अतः जब तक व्यक्तियों का जीवन स्वच्छ नहीं होता, तब तक सभी धर्मों– हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी में सौमनस्य स्थापित नहीं हो सकता। संत रैदास को अत्यन्त आश्चर्य है कि राम की पूजा कैसे की जाय? कहीं भी अनुपम फूल और फल नहीं मिलते। थन से दुहा दूध, बछड़े का जूठा होता है। पुष्पों को भौंरा एवं जल को मछली बिगाड़ देती है। मलय पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को सर्पों ने बेध डाला है। इसलिए वे मन को ही पूजा मानते हैं और मन को ही धूप। यही पूजा की सही विधि है। कितनी प्रासंगिक वाणी है रैदास की। सही में ''मानसिक पूजा' सबसे कारगर समाधान हो सकता है आज धार्मिक झगड़ों का क्योंकि अधिकांश झगड़े देवालयों को लेकर– मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, मठ, बिहार आदि से जुड़े स्थानों को लेकर-होते हैं।

राम मैं पूजा कहा चढाऊँ। फल अरु फूल अनूपन पाऊँ ।।
थनहर दध जो बछरू जुठारी। पुहुप भँवर जल मीन बिगारी।।
मलयागिरि बेधिया भुअंगा। विषअमृत दोउ एकै संगा।।
मन ही पूजा मन ही धूप। मन ही सेऊँ सहज सरूप।।
पूजा अरचना न जानूं तेरी। कह रैदास कवन गति मेरी।।[11]

वस्तुतः संतों की साधना सहज साधना है। सहज साधना का यह मार्ग सर्वथा अभिनव और क्रान्तकारी था- इसने धार्मिक जीवन की दुरुहताओं को सदैव के लिए हटा दिया। संत-सम्प्रदाय, विश्व-सम्प्रदाय है और उसका धर्म विश्वधर्म है। इस विश्व धर्म का मूलाधार है- हृदय की पवित्रता।[12] हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई इन धर्मों में तेजी से 'कठमुल्लापन' बढ़ रहा है। इस्लामिक आतंकवाद से सारी दुनिया परेशान है। भारत में जम्मू एवं कश्मीर में सीमा पार से मदद पाकर मुस्लिम आतंकवादी मासूम एवं निर्दोष

---

11. रैदास जी की बानी, पृ0- 17

12 नगेन्द्र(सम्पादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0- 139

लोगों का खून बहा रहे है। वहाॅ का गैर-मुस्लिमवर्ग प्रान्त छोड़कर विस्थापितों का जीवन जीने को बाध्य है। वहाॅ की समस्या हमारी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गयी है। ऐसी स्थिति मे संतों की मानवीय धर्म सम्बन्धी वाणी अत्यन्त प्रासंगिक है-

अल्लहराम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दू तुरक भेद कुछ नांही, देखौ दर्शन तोरा।।[13] (दादू)
सब हम देखा सोधि करि दूजा नाहीं आन।
सब घट एकै आत्मा, क्या हिन्दू मुसलमान।।[14] (दादू)

हिन्दू-इस्लाम में ही संघर्ष नहीं, आज कुछ सिक्ख भी इसमें शामिल हो गये हैं। विगत वर्षों में पंजाब-समस्या खालिस्तााान समर्थक कुछ अकालियों, जत्थेदारों, खाड़ कुओं और गुरुद्वारों की मिली भगत से राष्ट्र के सामने चुनौती के रूप में आयी। अधिकांश सिख आज भी पक्के राष्ट्र-भक्त है। परन्तु कुछ मुट्ठीभर लोग ही विदेशी ताकतों के उकसावे में धार्मिक हिंसा और आतंक फैला रहे हैं। सच में उन्हें सिख धर्म से लेना देना नहीं, अपितु अपनी राजनीति चमकानी है। उन्हें महामानव गुरुगोविन्द सिंह की वाणी याद कर लेना चाहिए-

हिन्दू तुरक राफजी, इमाम, साफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानबो।
करता करीम सोई, राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई, भूल भ्रम मानबो।
एक ही की सेव सबही को गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सबै, एकै जोत जानबो।।[15]

कट्टर हिन्दू इस धार्मिक संघर्ष की आग में घी डालने का काम करते हैं। अतः बहुसंख्यक अल्पसंख्यक की खायीं और चौड़ी होती जाती है। इससे सामाजिक न्याय की

---

13 हिन्दी संतकाव्य-संग्रह (भूमिका से उद्धृत), पृ0- 45
14. हिन्दी संतकाव्य-सग्रह (भूमिका से उद्धृत), पृ0- 45
15. आ0 परशुराम चतुर्वेदी-संतकाव्य पृ0 372

लड़ाई कमजोर हो जाती है और जातीय साम्प्रदायिकता बढ़ती है जो धार्मिक साम्प्रदायिकता से कम घातक नहीं है राष्ट्रीय एकता के लिए। आज भी समाज में वही धार्मिक रूढ़ियां व्याप्त हैं, अपितु और वृद्धि ही हुई है, जो संतकालीन समाज में थीं। संतों ने अपने युग की इन रूढ़ियो का काफी कुछ सफाया किया। अतः धार्मिक विषमता से व्याकुल वर्तमान समाज में भी संतमत प्रासंगिक है। संतों की वाणियों को आचरण में उतारे बिना धार्मिक कट्टरता, संकीर्णता एवं तज्जन्य अशान्ति से निपट पाना मुश्किल ही नहीं असम्भव है।

## (ग) वर्तमान आर्थिक गैरबराबरी और संतमत :

मानव जीवन में धन की आवश्यकता निश्चित है क्योकि जिन्दा रहनें के लिए अन्न, वस्त्र, आवास आदि की सभी को जरूरत पड़ती है और ये सब अर्थनिष्ठ हैं। आज किसी देश की गिनती उसकी आर्थिक मजबूती के आधार पर होती है। आर्थिक मजबूती ही किसी देश के बहुमुखी विकास में भूमिका अदा करती है। आर्थिक विपन्नता किसी भी राष्ट्र के लिए घुन है।[16] अस्थिरता और असहिष्णुता के इन तमाम विस्फोटों के पीछे मुख्य कारण आर्थिक है। हमारी आर्थिक स्थिति की विडम्बना बढ़ती हुई गरीबी नही, बढता हुआ असंतुलन है। इस असंतुलन का कारण छीना-झपटी की राजनीति है जिससे सारे देश में छीना-झपटी की मानसिकता पैदा कर दी है। आज कोई भी व्यक्ति अपनी आर्थिक उपलब्धि को अपनी योग्यता से जोड़कर नहीं देख पाता। उसे यही नजर आता है कि यदि उसे आर्थिक रूप से अभावग्रस्त नहीं रहना है तो उसे इस छीना-झपटी की शर्तो के अनुसार अपने लिए जो कुछ भी हथिया लेने के लिए जूझ पड़ना चाहिए-एक जोंक की तरह देश के रक्त-प्रवाह से चिपककर अपने मुह-भर लहू चूस लेना चाहिए। इस दृष्टि को अपना सकने में असमर्थ और सचमुच मेहनत करके अपनी योग्यता का फल ढूढ़ने वाले व्यक्ति की मायूसी इससे और बढ़ जाती है। आज की व्यापक तोडफोड़ के मूल में यही आर्थिक अराजकता है।[17] आधी आबादी आज भी गरीबी रेखा के नीचे दो जून के खाने

---

16. हरिवंश तरूण-भारत की राष्ट्रीय एकता पृ0 -148
17. मोहन राकेश- विघटन के बिन्दु पर भावात्मक एकता की खोज (मुक्त धारा) पृ0 6

के लिए तरसती है और निरक्षरता के समुद्र में पशुवत जी रही है। मुट्ठीभर लोगों का देश के संशाधनों पर अधिकार है। हरिजन और आदिवासी जो कि पूरी देश की आबादी का आधा हिस्सा है, सबसे दयनीय स्थिति में है। 'स्वाधीनता के 50 वर्ष के बाद, आज भी देश में एक लाख से अधिक गाँव ऐसे हैं, जिनके पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है। या तो मीलों दूर से महिलाओं को पानी लाना पड़ता है या फिर जानवर और आदमी एक ही तालाब या जोहड़ का पानी पीते हैं और उसी में नहाते धोते हैं। आज भी ऐसे गाँव हैं जहाँ बन्धुआ मजदूर गोबर को धोकर उससे निकले अनाज के दानों पर अपनी गुजर करते हैं जबकि उन्हीं की जाति के नेता उनके नाम पर मुगलिया बादशाहों जैसे ऐशो-आराम का जीवन विताते हैं। कैसी विडम्बना है कि एक ओर सड़को पर कारों की भीड़ बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर आर्थिक उदारीकरण की नीति के चलते, हमारे देश की 16 प्रतिशत आबादी की प्रति-व्यक्ति-आय 3 रूपये रोज आंकी गयी है। लोकतंत्र का आधार है मानव-जीवन का मूल्य और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच समानता, किन्तु हमारा सामाजिक जीवन और चिन्तन आज भी सामन्तवादी है। आज भी मनुष्य के जीवन की अलग-अलग कीमते लगती हैं। कहीं बच्चे का प्रतिदिन का जेंब खर्च 500 रूपये है तो कहीं 200 रूपयें में आदिवासी माताएँ अपने बच्चे को वेचने पर मजबूर हो जाती हैं।[18] खगोलीकरण और उदारीकरण की नीतियों के चलते आज गरीब और भी गरीब होता जा रहा है और अमीर की अमीरी आसमान छू रही है, उसने सुख-सुविधाओं का अम्बार लगा रखा है। इतनी आर्थिक गैर-बराबरी शायद पहले कभी नहीं थी।

संतों के समय भी आर्थिक विषमता थी और लोगों का आर्थिक शोषण किया जाता था, जिसका संतों की वाणियों में जगह-जगह जिक्र मिलता है। यही कारण है कि उन्होंने अपने समाज में आर्थिक समता लाने के लिए अतिशय धन की इच्छा को माया कहकर, निंदा की और बताया कि 'धन-वैभव किसी के साथ नहीं जाता'। प्रोफेसर राजेन्द्र कुमार, इरफान हबीव और अन्य इतिहासकारों का संदर्भ देकर बताते है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना से शिल्पियों की आर्थिक स्थिति सुधरी क्योंकि शिल्प

---

18. डॉ0 सुभाष काश्यप - वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे संविधान समीक्षा (पालिटिक्स इण्डिया, मासिक, अगस्त 1998, में प्रकाशित लेख) पृ0 33

सम्बन्धी अनेक यंत्रों का विकास और नयी तकनीकी का आगमन इस समय हुआ। शिल्पियों की आर्थिक स्थिति सुधरने से उनमें आत्म-विश्वास पैदा हुआ। कबीर, रैदास, दादू आदि संत व्यवसाय से शिल्पी ही थे। कबीर कपड़े बनाते थे, दादू धुनिया थे, अतः करघा एवं चरखा में सुधार होने से उनकी आर्थिक दशा सँभली जिसने उनमें आत्मविश्वास के उस तेज को जन्म दिया जिसके बल पर वे जातिवादियों एवं कर्मकाण्डियों, ब्रह्मणों एवं काजी, मुल्ला आदि को चुनौती दे सके। आगे वे कहते हैं कि इस प्रगति से शिल्पियों की हालत सुधरी परन्तु पुजारियों की, जो कथावाचन जैसे कार्य से अथार्जित करते थे, स्थिति में गिरावट आयी क्योंकि संतों की वाणी ने उनके इस धन्धे को बहुत कुछ चौपट कर दिया।[19] किन्तु आज आर्थिक विषमता की दूसरी प्रवृत्ति पनपी है जिसमें शिल्पी नष्ट हो रहे हैं, श्रमिकों, मेहनतकश-लोगों की हालत सुधरने की जगह विगड़ रही है। उनके श्रम एवं उत्पाद आयातित उत्पादों का मुकावला ही नहीं कर पा रहें हैं। किसान की फसले चौपट करने वाले बीज बाजार में आ गये हैं। आज भी कृषक सामूहिक आत्महत्या करने को विवश हो रहे हैं। धनी और गरीब की यह खाई युगों से चली आ रही है और आज भी कायम है। "प्रभुसत्ता और समन्ती व्यवस्था के शोषण के कारण कबीर ने बार-बार असुरक्षा और आश्रय हीनता का तीखा अनुभव किया है- 'बाबा अब न बसऊं यहि गॉव' जैसे पदो में। कबीर की बाणी में कई स्थान पर ऐसे प्रसंग हैं जो तत्कालीन व्यवस्था की नृशंसता पर प्रहार भी करते हैं। दैनिक जरूरतों के लिए पुत्र-पुत्रियों तक को गिरवी रखने की व्यवस्था जिस समाज में हो उससे कबीर का तालमेल बैठना असम्भव था। गरीबी के भयावह दृश्य-चित्र अनेक बार कबीर की साखियों और सवदों में आये हैं।"[20]

---

19. प्रो0 राजेन्द्र कुमार (हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद) -भाषण का अंश (सी0एम0पी0डिग्री कालेज के स्वर्णजयन्ती समारोह वर्ष में आयोजित 'साहित्य' का समाज शास्त्र' पर बोलते हुए) 20 दिसम्बर, 2000 ई0।

20. प्रो0 मालती तिवारी-कबीर सग्रह (प्रस्तुत सकलन) पृ() 8

निरधन आदर कोई न देई। लाख जतन करें ओहु चित्त धरेई।
जो निरधन सरधन के जाई। आगे बैठा पीठ फिराई।।[21]

वस्तुतः यह कबीर की अपनी पीड़ा नहीं बल्कि आम आदमी की पीड़ा थी जो बार-बार उनका पीछा करती थी। इसके खिलाफ समाज को इकट्ठा करने के लिए उन्होंने समाज को कर्म करने की प्रेरणा दी। खुद जुलाहे का धन्धा करते रहे। पारिवारिक और आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिए संतों ने दूसरों पर आश्रित या परजीवी रहने वालों का विरोध किया। अतिशय धन-संग्रह की प्रवृत्ति का उन्होनें विरोध किया। धन-पशुओं को चिताते हुए संतकवि सुन्दरदास कहते हैं कि तुम चाहे जितना भी भण्डार कर लो, तुम्हारी धन की तृषा कभी शान्त होने वाली नही है। यह सारा धन एवं सुन्दर शरीर सभी कुछ काल कवलित हो जायेगा-

सूझत नाहिन कालहि तो सिर, मारि के थाम मिलाइहि माटी।[22]

धन की भूख आज इतनी बढ़ गयी है कि आदमी तुरन्त धनी बनने की मानसिकता के चलते अच्छे बुरे सभी कार्य कर रहा है। यो तो हर क्षेत्र में आचरण की भ्रष्टता दिखायी देती है, किन्तु आर्थिक भ्रष्टाचार का वजूद देखते बनता है। आज भ्रष्टाचार का अर्थ ही हो गया है- आर्थिक गवन, घोटाला, रिश्वत! डॉ० सुभाष काश्यप ने ठीक ही लिखा है : ''सारी व्यवस्था क्षत-विक्षत हो गयी, टूट-फूट गई। भ्रष्टाचार और लूट खशोट की होड़ में सभी दलों के नेताओं ने अपनी तिजोंरियाँ भरीं, विदेशी बैंको के खातों में भारी रकमे जमा कीं, घोटाले पर घोटाले किए, अपनी भावी पीढ़ियों का भविष्य सुरक्षित किया और जब देश दिवालियेपन के कगार पर आ खड़ा हुआ तो अपने खर्चेऔर ऐशो-आराम कम करने के बजाय राष्ट्र की अस्मत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और अमरीकी आकाओं के हाथो गिरवी रख दिया।

21. संत सुधासार-प्रथम खण्ड, कबीर, पृ0 91
22. सुन्दर विलास-तृष्णा को अग-4, पृ0 27

अपने विशाल बाजार को ही विदेशी कम्पनियों द्वारा उपभोग की सामग्रियां बेचने और शोषण करने के लिए मुक्त कर दिया।''[23] यह तो राजनीतिज्ञों की बात हुई।

हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार फैला हुआ है जिसकी मार अन्ततः आम गरीब आदमी को ही झेलनी पड़ती है। ऐसे में संतों की अपरिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, धनवैभव की नश्वरता, सादा जीवन, संयमित जीवन, परोपकारिता, दया, भ्रातृत्व आदि की प्रेरणाप्रद वाणियाँ बहुत मौंजू हैं; जिन्हें जीवन में आचरित करने से ही आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार, भूख-प्यास, गरीबी, ऊँच-नीच की दुर्भावना पर नियंत्रण किया जा सकता है और तभी मनुष्य-मात्र का कल्याण संभव है। वास्तव में इच्छाओं का अन्त नहीं है; अतः कबीर का यह कथन उनके समय में तो प्रासंगिक था ही वर्तमान संदर्भ में तो और भी प्रासंगिक और उपयोगी बन पड़ता है-

'उदर समाता अन्न लै, तनहिं समाता चीर।
अधिकहि संग्रह ना करै, ताका नाम फकीर।।'[24]

संतों की यह सदिच्छा कितनी प्रासंगिक है कि उन्हे उतना मिल जाय जिससे वह 'अपने कुटुम्ब का भरण पोषण कर सकें' तथा 'आये हुए साधु सज्जन को भी उनके यहा से भूखा न जाना पड़े'। अपनी मेहनत से जो भी प्राप्त हो व्यक्ति को उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। यदि आज यह भावना हर व्यक्ति में विकसति हो जाय तो भ्रष्टाचार एवं आर्थिक गैर-बराबरी समाप्त होने में बहुत समय नहीं लग सकता। गाँधी जी भी तो शारीरिक श्रम एवं त्याग के साथ खाने की बात कहते थे। उन्होनें ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त प्रचारित किया कि धनिको-पूजीपतियों को अपने भरण-पोषण के वाद शेष सम्पत्ति ट्रस्ट को सौपकर गरीबों पर उन्हें कार्य में लगाकर खर्च करनी चाहिए।

इस प्रकार आर्थिक शोषण के खिलाफ संत-कवियों ने जो कुछ भी कहा, वह आज भी प्रासंगिक एवं युक्तियुक्त है।

---

23 वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सविधान समीक्षा (पालिटिक्स इण्डिया, मासिक अगस्त 1998 में प्रकाशित लेख), पृ0 33

24. संत सुधासार-प्रथमखण्ड, कबीर, पृ0 155

प्रो० मैनेजर पाण्डेय का मन्तव्य उचित ही हैः ''भक्ति आन्दोलन की निर्गुण धारा की कविता भारत की श्रमजीवी जनता के जीवन की वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की कविता है जिसके प्रवर्तक और प्रतिनिधि कवि कबीर हैं। वे बार-बार कहते हैं, मैं जुलाहा मै जुलाहा'। उनकी कविता का ताना-बाना भी कहता है कि वह एक बुनकर की कविता है। उसका पूरा काव्य-लोक एक जुलाहे के जीवन-यथार्थ के अनुभवों से बुना हुआ है। यहॉ तक कि कबीर की भक्ति भावना के अध्यात्म-लोक में भी उन्ही अनुभवों की बनुत हैः

उलटि जाति-कुल दोऊ विसारी। सुन्न सहज महिं बुनत हमारी।

हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित-मुल्ला छांडे दोऊ।

बुनि-बुनि आप आप पहिरावों। जहॅ नही आप तहॉ हवै गावों।

पंडित-मुल्ला जो लिखि दीया। छॉड़ि चले हम कछु न लीया।[25]

इस प्रकार संतों का प्रभाव एक व्यावहारिक गृहस्थ तथा कर्ममय जीवन के माध्यम से समाज के लिए चुनौती रहा है।

## (घ) टूटते पारिवारिक रिस्ते और संतमत :

समाज में व्याप्त हिंसा और अव्यवस्था आज के टूटते हुए परिवारों की देन है क्योंकि बच्चे की प्राथमिक पाठशाला उसका परिवार ही होता है। परिवार में जो कुछ घटता है उसका प्रभाव समाज पर पड़े बिना नहीं रहता। यदि परिवार में प्रेम, सेवाभाव, समर्पण, अनुशासन, आज्ञाकारिता, परदुःखकातरता जैसे उदात्त भाव हैं तो निश्चित ही उसका प्रभाव परिवार में पलने वाले बच्चे पर पड़ेगा। खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज का परिवार इन सभी उदात्त मूल्यों के ढेर पर बैठा है। सारे पारिवारिक रिस्ते अब विघटित हो गये हैं। सम्बन्धों में अब स्वार्थ हावी हो गया है। अर्थ सबसे ऊपर स्थापित

---

25 मैनेजर पाडेय - कबीर और आज का समय (आलोचना त्रैमासिक, सहस्राब्दी अंक एक, अप्रैल-जून, 2000 मे प्रकाशित), पृ0 279

होकर सारे मूल्यों एवं सम्बन्धों पर शासन कर रहा है। एक आदर्श परिवार में स्त्री-पुरूष, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, मा-बाप, चाचा-चाची आदि सभी एक दूसरे से गहरे भावनात्मक सूत्र में बॅधे रहते है और वढ़ो का आदर किया जाता है। आज व्यक्तिवाद इतना हावी हो गया है कि संयुक्त-परिवार टूट कर नाभिकीय-परिवार के रूप में सामने आ गया है जिसमें पति-पत्नी में आये दिन छोटी-छोटी बातों में तलाक तक हो जाता है। सहिष्णुता-सहने की क्षमता अब अन्तिम शॉसे ले रही है। परिवार में उसी को महत्त्व मिलता है जो ज्यादा पैसे लाता है, गुणों की महत्ता अव नहीं अब तो सारे गुण 'कांचन' (धन) का आश्रय प्राप्त करते जा रहे हैं। संतों ने धन की महत्ता को सीमित किया। केवल परिवार का समान्य निर्वाह हो जाय, इतना ही धन की वे स्वामी से प्रार्थना करते हैं। संतों ने धन की जगह 'प्रेम' को अपार विस्तार और असीम महत्त्व दिया। प्रेम की कमी आज सभी प्रकार के सम्बन्धों में है। अतः संन्तों की वाणियाँ इस संदर्भ में काफी प्रासंगिक है और जिनका उपयोग पारिवारिक हित में हो सकता है। पिता-पुत्र के सम्बन्धों में खटास का कारण है प्रेम की जगह धन का दवाव। पिता की नजर में कमाऊ पुत्र ही श्रेष्ठ है जो उनकी झोली भरता रहे और ऐसे योग्य-पुत्रों की कमी नहीं जो अपने वृद्ध-पिताओं को जीवन-काल में दाने-दाने को तड़पाते हैं मगर मरणोपरान्त अन्त्येष्टि-क्रिया में खूब खर्च करके झूठी सामजिक इज्जत पाने का नाटक करते हैं। कबीर कहते हैं :

> जारि बारि करि आवे देहा, मूवा पीछै प्रीति सनेहा।
> जीवत पित्र कूँ अन्न न ख्यावै, मूवां पीछै प्यंड भरावै।।[26]

पति-पत्नी का रिस्ता आज काफी कमजोर हुआ है। बराबरी की अंधी होड़ ने आज काफी तनाव पैदा किया है स्त्री-पुरूष के सम्बन्धों में। पति-पत्नी में आत्मीय सम्बन्धों की पवित्र निष्ठा एवं सद्‌भावना दिनों-दिन लुप्त होती जा रही है। आये दिन कलह, मारपीट की घटनाएं बढ़ी हैं जिनका प्रभाव संतानों पर पड़ रहा है। उनमें

---

26 कबीर ग्रन्थावली, पद 356, पृ 207

भावनाओं सम्बेदनाओं का अकाल सा पड़ गया है। ठीक से संतानों की परवरिश न होने से सर्वत्र अव्यवस्था एवं हिंसा की गतिविधियों में वृद्धि हुई है।

सम्प्रति स्त्री को पुरूष के समान बराबरी का दर्जा दिया गया है। नारी-मुक्ति और नारी-स्वातंत्रय की दृष्टि से तो यह ठीक है मगर समानता और स्वतंत्रता को स्वच्छन्दता के रूप में नहीं लेना चाहिए। जब यह सारी मर्यादाओं को तोड़कर उच्छृंखलता की हदे छूने लगता है, तब सारा पारिवारिक ढाँचा ही चरमरा उठता है। अतः दोनों को मर्यादित जीवन ही विताना चाहिए -

> नारी पीवै पुरूष को, पुरूष नारि को खाय।
> दादू गुरू के ज्ञान बिन दोन्यूँ गये बिलाय।।[27]

कबीर पर एवं अन्य संतों पर नारी-विरोधी होने का आरोप लगता है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः कबीर ने उन्ही की निंदा की है जो तथाकथित 'कामिनियाँ' रही हैं। कामिनियों से कबीर का तात्पर्य चरित्र-भ्रष्ट-कुलटा स्त्रियों से ही है। वर्तमान प्रगतिशील नारी समर्थक भी ऐसी आधुनिकताओं की स्वेच्छाचारिता को नापसंद करते हैं क्योंकि समाज के स्वास्थ्य के लिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि चारित्रवान नारियों के लिए कबीर के मन में बड़ा सम्मान था। पतिव्रता को संतों ने वेहद सम्मान दिया है। वास्तव में सामाजिक मूल्यों के उच्चादर्शो को बनाये रखने के लिए पातिव्रत-धर्म की महत्ता आज भी प्रासंगिक है। कबीर तो कुरूप-पतिव्रता के ऊपर करोड़ों तथा-कथित 'स्वरूपाओं' (सुन्दरता और वासनाओं का व्यापार करने वाली तथा-कथित विश्वसुन्दरियों) को न्योछावर कर देते हैं-

> पतिवरता मैली भली, काली कुचिल कुरूप।
> पतिवरता के रूप पर वारौं कोटि स्वरूप।।[28]

वास्तव में दाम्पत्य को जोड़ने वाला सीमेन्ट सेवा है जिससे सम्बन्धों में स्थायित्व आता है। संत दादूदयाल भी कहते है-

---

27 दादू दयाल जी की वाणी, पृ0 129-130

28 सत सुधासार -प्रथम खण्ड, कबीर, पृ0 131

दादू नीच-ऊच कुल सुन्दरी सेवा सारी होइ।
सोई सुहागनि कीजिए, रूप न पीजें धोइ।।[29]

अधिकांश संत गृहस्थ थे और परिवार का भरण पोषण-स्वयं मेहनत करके करते थे, 'मॉगि के खइवो' वालों में से नही थे। वे केवल अपने परिवार तक ही सीमित नहीं थे अपितु दूसरे के बारे में भी चिन्तित थे कि कोई भूखा न रहे। लोभ-लालच से दूर थे और जोभी अपनी मेहनत की कमाई है, उसी मे संतुष्ट रहने वाले लोग थे। आज इन मूल्यों की अतयन्त आवश्यकता है परिवारिक-सामाजिक तनाव एवं हिंसा की समाप्ति के लिए। संतों की शिक्षाएँ परिवार में फिर से सेवा, कर्तव्य-भावना, परदुःखकातरता, मिलवाँट कर भोग करने की प्रवृत्ति पैदा कर आत्मनिर्वासन की जिन्दगी जी रहे वृद्धों की स्थिति में सहायता कर सकती है।

## (ड.) मनवीय मूल्यों का ह्रास और संतमत :

आज मनुष्य के सामने सवसे बड़ा संकट है उसके मानवी मूल्यों का ह्रास। नैतिकता जैसे बीते-युग की बात हो गयी है। नैतिकमूल्य और चरित्र पर मनन करने के लिए वर्तमान मानव के पास समय ही नही है। भौतिकता की ऐसी आँधी चल रही है जिसने सभी मानवीय मूल्यों-दया, प्रेम, परोपकार, करूणा, परदुःख-कातरता, त्याग, बलिदान, क्षमा, धैर्य, विनम्रता, सदाचरण, सात्विकता, पवित्रता आदि को उखाड़ फेंका है। वर्तमान व्यक्ति की मानसिकता में अतिशय व्यक्तिवादिता, कामुकता, धनलोलुपता, परोपकार की जगह अहंकार और अतिशय भोगवादी-प्रवृत्ति ने घर कर लिया है। अब उसके जीने मरने का यही मूलाधार बन गया है। 'कनक' और 'कामिनी' का जितना अधिक दुष्प्रभाव समाज में आज है, कदाचित् संतों के मध्य-युगीन समाज में भी न रहा होगा। संतों ने उस दुष्प्रभाव को काफी हद तक सीमित करने में सफलता भी प्राप्त की थी।

---

29 सत सुधासार-प्रथम खण्ड, दादू दयाल, पृ0 470

किन्तु आज 'कनक-कामिनी' जैसे भौतिक सुखों को पाने की ऐसी अंधी दौड़ का दौर भारतीय इतिहास में इससे पहले शायद कभी नहीं दिखायी दिया। खगोलीकरण (Glovalisation) के नाम पर पूँजीवादी व्यवस्था 'धन' को सर्वश्रेष्ठ नैतिक मूल्य के रूप में स्थापित कर रही है जिसकी परिणति आर्थिक घुटालों एवं धन की छीना-झपटी के रूप में हो रही है। हर चीज का वाजारीकरण एवं व्यावसायीकरण हो गया है जिसने अपराधीकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। पहले अपराधीतत्व अपनी सुरक्षा के लिए नेताओं को पैसा देते थे किन्तु अब नेता अपनी सुरक्षा के लिए उन्ही अपराधी तत्वों पर निर्भर रहने लगे हैं। सुभाष काश्यप लिखते है. 'हम सबके चरित्र गिरे है। जीवन में मूल्यों का ह्रास हुआ है, स्वार्थपरता, थोथा उपभोक्तावाद-बढ़े हैं। देश का संकट केवल राजनीतिक व्यवस्था का नहीं, राष्ट्रीय चरित्र का संकट है। आध्यात्मिक संकट है। आज "वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर परायी जाणे रे" सोचने कहने वाला कहीं नहीं मिलता। लेने की, लूटने की होड़ लगी है। देना कोई नही चाहता, सेवा नही, सत्ता के लिए ही राजनीति रह गई है। आगे वे लिखते हैः 'आज पैसा, कुर्सी, सत्ता, पद और अधिकारों' की लड़ाई ही सब कुछ हो गयी है। पढ़े-लिखे लोग, बुद्धिजीवी, राजनेता, प्रशासक, व्यापारी, उद्योगपति, वकील, डाक्टर, अध्यापक, विद्यार्थी किसी के लिए कोई आचार-संहिता नहीं है। कोई मूल्य नहीं रह गये हैं।" जो इन बुराइयों के खिलाफ आवाज उठाता है उसके साथ वही आज भी होता है, जो संतों के समय होता था; बल्कि आज तो इसे खत्म करने के नये-नये हथकंडे ईजाद कर लिये गये हैं। संत कबीर इस बात से दुखी थे कि कोई उनके अनुभूत सच को सुनना नहीं चाहता। लोग सच सुनकर मारने दौड़ते हैं और झूठ पर विश्वास करते हैं:

> साधो देखों जग बौराना।
> साँची कहौं तो मारन धावे, झूठे जग पतियाना।[30]

मैनेजर पाण्डेय ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि ऐसा दुख उसे ही होता है जो अपने समय और समाज के वारे में सजग होता है। उसी सजगता से उपजी है कबीर की

---

30 मैनेजर पाण्डेय - वहीलेख, पृ0-279

कविता, जो कालजीवी है और कालजयी भी। वह अपने समय में जितनी सार्थक थी उतनी आज भी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐसी कविता को 'चिर आधुनिक' ठीक ही कहा है। आज भी, कबीर का 'पढाई-लिखाई' पर किया गया दू टूक भाष्य. कितना सही वैठता-

पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया, लिखि-लिखि भया जू ईट।
कहै कबीरा प्रेम की लागी न एकौ छीट।।[31]

आजपढे-लिखे लोग क्या ऐसे नहीं हैं? प्रेम की जगह वे जाति-पाति, धर्म-सम्प्रदाय, अगड़ा-पिछड़ा के समुद्र में नौका-विहार कर रहे हैं। इस संदर्भ में संतमत आज अत्यन्त प्रांसंगिक हो गया है जिसके उपयोग से मानवीय मूल्यों की पुनः स्थापना हो सकती है। कबीर ने न तो किसी धर्म को अपनी पहचान का आधार माना और न जाति को। उन्होंने केवल मुनष्य के रूप में अपनी पहचान समाज के सामने रखते हुए कहा था:[32]

''हिन्दू कहों तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पांच तत्व का पूतला, गैवी खेलै माहिं।।''

साथ ही वे यह भी घोषणा करते हैं·

''हम बासी उस देश के जहाॅ जाति बरन कुल नाहिं।'' वास्तव में संत-कवि केवल अपने युग की चिन्ता के कवि नहीं हैं, वे भारत के अतीत की तेजस्वीज्ञानधारा और भविष्य की संभावनाओं के कवि है।

शरीर की भूख मिटाने वाले व्यक्तियों के वारे संत कवयित्री सहजोबाई ने जो कहा था, वह आज भी प्रासंगिक है।

---

31 मैनेजर पाण्डेय- वहीलेख, (से उद्धृत साखी), पृ0-279

32 मैनेजर पाडेय- कवीर और आज का समय पृ0 276

कामी अति भिष्टल सदा, चलै चाल विपरीत।
सील नही सहजों कहै, नैनन मॉहि अनीत।।[33]

आज स्त्रियो से ज्यादा 'कामिनियॉ' समाज में दिखायी पड़ रही हैं। शील का तो नाम ही नही है। खगोलीकरण के साथ आये पूॅजीवादी मूल्य सरे-आम पैसे के बल पर शील की 'सील' तोड़ रहे हैं। आयातित अपभ्रष्ट सांस्कृतिक मूल्य हमारी सुन्दर एवं वैज्ञानिक मान्यताओं को भी निगले जा रहे हैं। काम-वासना और लोभ-लालच, स्त्री-पुरुष, पण्डे-पुजारी, मुल्ला-मौलवी, नेता-अधिकारी सभी पर शासन करने लगे हैं। संतों का कामुक स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य का संन्देश आज अत्यन्त प्रासंगिक बन पड़ा है और उसकी उपयोगिता पारिवारिक विघटन को रोकने के लिए आज और भी अधिक वढ़ गयी है। कनक और कामिनी के सम्बन्ध में कबीर की वाणी आज भी नर को सचेत करती है।

'कबीर एक कनक अरू कांमनी, विषफल कीये उपाय।
देखै ही थैं विष चढै, खाये सूं मरिजाइ।।
कबीर एक कनक अरू कांमनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखे तन प्रजलै, परस्यां है पैमाल।।'[34]

आज लोभरूपी मदिरा के सभी दिवाने है। हर कोई धन-वैभव के लिए पागल हो रहा है। सभी को घर जोड़ने की ही नहीं, घर भरने की लालसा एवं तत्कृते होड़ लगी हुई है। लोभ-लालच में आकर ही सारे बुरे काम स्त्री-पुरुष कर रहे हैं। लोभी व्यक्ति सारे मूल्यों का विनाशक होता है क्योंकि लोभ महापाप की खान है। चरणदास की वाणी देखी जा सकती हैः

लोभ नीच वर्नन करूॅ महापाप की खानि।
मंत्री जाका झूठ है, बहुत अधर्मी जानि।।[35]

---

33 संत बानी संग्रह-भाग-1, पृ0 159

34 डॉ0 माता प्रसाद गुप्त-कबीर ग्रन्थावली, पृ0 67

35. सतबानी सग्रह-भाग-1, चरणदास, पृ0 149

संतों ने सारी आसक्तियों का विरोध करते हुए हृदय में सच्चाई एवं पवित्रता को सबसे बड़ा तप बताया। सच्चे दिल इंसान को भगवान् समझिये।

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाकै हिरदै साच है, ता हिरदे गुरू आप।।[36]

संतों की वाणी-'जो तो को कांटा बुवै, ताहि बोव तू फूल'-आज हिंसा-प्रतिहिंसा की आग में जल रहे समाज को दिशा दे सकती है। कबीर के ये प्रश्न आज भी अपनी प्रासंगिकता रखते हैं-

''कब नारद बन्दूक चलावा।
व्यासदेव कब बंब बजावा।।[37]''

''दिन भर रोजा धरत है, रात हनत हो गाय।
यह तो खून वह वंदगी, क्योंकर खुशी खुदाय।।[38]''

हिंसा और आतंकवाद से जूझ रही दुनिया में संतों की वाणी बहुत उपयोगी है। विश्व-मानवतावाद, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना संतमत में व्याप्त है-'साई के सब जीव है, कीरी कुंजर दोय' (कबीर),' हम तौ एक एक करि जानां'(कबीर); 'सबका लौहू एक है साहब फरमाया' (नानक), 'दादू समकरि देखिये' (दादू)।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संतों ने अपने समय के समाज के कल्याण के लिये जो कुछ कहा, वह आज के पतन की ओर प्रवृत्त समाज के लिये भी उपयोगी हो सकता है। उनकी वाणियों की जितनी उपादेयता और प्रासांगिकता तब थी, उससे कहीं जादा वर्तमान समय में है। यदि प्रत्येक-व्यक्ति संतमत द्वारा निर्दिष्ट सत्य का आचरण करे तो हमारी अनेक समस्याओं का समाधान संभव हो सकता है।

---

36 कबीर, सतवानी सग्रह, भाग-1, पृ0 46

37. वही, द्वितीय खण्ड, पृ0 236

38 कबीर वचनावली– (मिथ्याचार-179), पृ0 236

जन-मानस के संताप को दूर करनेवाली संतों की पीयूषवर्षी वाणी का मध्यकालीन समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपनी 'बानियों' से आनेवाली पीढ़ियों को अजस्र प्रेरणा प्रदान की। संतों की वाणियाँ धार्मिक एवं जातीय पाखण्ड तथा शासकों के दमनचक्र के विरोध के परिणाम स्वरूप कही गयी थी। आज भी यह भेदभाव एवं शोषण तथा शासकीय दमनचक्र खत्म नहीं हुआ है। वर्तमान शोषण एवं आतंक पर टिकी व्यवस्था का हर विरोधी संत-कवियों की वाणियों एवं विचारों से ऊर्जा एवं प्रकाश ग्रहण करता है। आधुनिक-युग के अनेक विचारक, नेता, समाज-सुधारक और साहित्यकार संतमत से प्रभावित हुए और प्रेरणा लेते रहे। ऐसे ही महान् व्यक्तित्वों में गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और डाक्टर राम मनोहर लोहिया का नाम उल्लेखनीय है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर मध्यकालीन संतों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्हें मध्यकालीन संत-कवियों के द्रष्टा के रूप में स्मरण किया जाता है। संतमत का 'राम' गुरुदेव के यहाँ 'सुन्दर' के रूप में चित्रित है। उनमें भी अपने सुन्दर के लिये वहीं छटपटाहट और उसकी झलक-मात्र के लिये बेचैनी है। वह भी अपने प्रिय की वंशी-ध्वनि सुनकर जैसे-जैसे 'सुन्दर' की ओर बढ़ता है, उसकी दूरी बढ़ती जाती है और अन्तरात्मा की बैचैनी बढ़ती जाती है। संत-कवि ब्रह्म को मनुष्य के अन्दर ही मानते हैं। टैगोर और भी आगे बढ़कर उसका निवास खेतों-खलिहानों में श्रमरत किसानों, धूप में पत्थर तोड़ते हुए मजदूरों में मानते हैं:

> भजन पूजन साधनआराधना समस्त थाक पडे
> रूद्ध द्वारे देवालयेर कोणेकेन आछिस ओरे
> अंधकारे लुकिये आपन-मने काहारे लुइपूजिस संगोपने
> पाथर भेगे काटछे जे थाय पक्ष खाटछे बारोमास।[39]

संत-मत की मानवतावादी चेतना नें रवीन्द्र-साहित्य को प्रभावित किया। संत-कवियों के समान टैगोर की भी सहानुभूति दुःखी एवं शोषित व्यक्ति के साथ है।

---

39 गीताजलि-137

सभी के साथ सम-व्यवहार अपनाने वाले टैगोर भी प्रभु का निवास दीन-दुखियों में ही मानते हैं। इसी प्रकार टैगोर की रहस्यानुभूति भी संतों से काफी मिलती है।

महात्मा गांधी संतों की विचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित हैं। संतों के समान ही गांधीजी ने समाज की विडम्बनाओं एवं क्रूरताओं के विरुद्ध संघर्ष किया। संतों की ब्रह्मविषयक धारणा ने गांधी को भी प्रभावित किया। गांधी का ईश्वर तुलसी का 'दशरथ सुत' न होकर संतों का निर्गुण 'रघुपति राम' है। उन का भी 'ईश्वर-अल्ला' एक ही है। उनकी रामधुनि की रट में 'गीता' के साथ-साथ 'कुरान' और 'बाइबिल' का भी समावेश है। ईश्वर के बारे में वे कहते है- वह हममे व्याप्त है और फिर भी हमसे परे है। वह बड़ा सहनशील है लेकिन वह भयंकर भी है। उसका व्यक्तित्व इस दुनिया में और भविष्य की दुनियों में, सबमें काम करने की ताकत रखता है।[40] हिन्दू-मुसलिम एकता की जो राह संतों ने दिखायी गांधीजी उसी पर चले और इस दिशा में वे और भी आगे बढ़े। गांधीजीः ''इस समय आवश्यकता इस बात की नहीं है कि सबका धर्म एक बना दिया जाय, बल्कि इस बात में है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदरभाव और सहिष्णुता रखें।'[41] गांधी की भाषा-शैली, रहन-सहन, खान-पान किसी संत से कम नहीं था और वह भी जीवन-भर श्रम करते रहे- चरखा चलाते थे। सत्य और अहिंसा के सभी संत पुजारी थे और गांधी ने इसकी प्रासंगिकता सिद्ध कर दी देश को आजादी दिलाकर सत्य-अहिंसा के बल पर।

आजादी के बाद राममनोहर लोहिया ने सरकारी भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ जिस प्रखरता-निर्भीकता से संसद और उसके बाहर किया, उससे पहले ऐसे तीखे विरोध का अन्य उदाहरण नहीं मिलता। समाज और राष्ट्र के लिये उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया। सामाजिक न्याय के वे सबसे प्रखर वक्ता थे। पिछड़ी और दलित जातियों के हित के लिये वे जीवनभर लड़ते रहे। कबीर उनके सबसे प्रिय कवि थे। लोहियाजी कबीर के

---

40 हिन्दी नवजीवन 5-3-1925, पृ0 238

41. हिन्दी नवजीवन 19-9-1929, पृ0 33

'ठगिनियॉ रे तूँ काहे नैना झमकावे' और 'माया महा ठगिनी हम जानी' जैसे पदों का प्रयोग तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी की विलासितापूर्ण जीवनशैली के संदर्भ में अक्सर किया करते थे। गरीबो के मशीहा थे और गरीब-पिछड़ी जातियाँ आज भी उन्हें वैसा ही स्नेह एवं आदर दिया करती हैं जैसा कबीर को देती हैं। इस प्रकार संतमत की प्रासंगिकता तब भी थी, आज भी है और मानवता के कलयाणार्थरत व्यक्तित्वों के लिए भविष्य में भी बनी रहेगी।

## (च) वर्तमान साहित्य और संतमत :

वर्तमान हिन्दी साहित्य जिस आधुनिक परम्परा से विकसित होकर आज अपनी पहचान बनाये हुए है उस आधुनिक हिन्दी साहित्य पर संतों का व्यापक प्रभाव रहा है। यह सही है कि दोनों साहित्य-परम्पराएँ अपने युग को प्रतिबिम्बित करती है। मध्यकालीन सामन्ती जीवन-मूल्यों, मान्यताओ और संतकवियों के मानवतावादी-मूल्यों के टकराव की प्रतिक्रिया लोकोन्मुखी भावनाओं के रूप में प्रखरता से व्यक्त हो रही थी। छायावादी युग में ये सामन्ती मूल्य मृतप्राय तो नहीं हुए थे, किन्तु पराधीनता से स्वाधीनता का संघर्ष अपनीचरमावस्था को पहुंच रहा था जिसके अन्तर्गत रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह, अन्याय का प्रतिरोध, धार्मिक बाह्य आडम्बर के प्रति संघर्ष, वैयक्तिक प्रतिष्ठा, समानाधिकार, नारी-स्वातंत्र्य, मानवतावाद, सहिष्णुता आदि लोकोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना का विकास हो रहा था। "छायावादी कबिता का भावपक्ष जहाँ संतों की आध्यात्मिक चेतना का स्पर्श करता है, वहीं दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति-शैली में संतों के तमाम तेवर एवं व्यंजना के सारे तत्व दृष्टिगोचर होते हैं।[42] प्रसाद का 'बिजयिनी मानवता हो जाय', पंत का 'यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित' निराला का 'दलितजन पर करो करुणा' महादेवी का 'तुम मुझमें फिर अन्तर क्या' आदि संतों के मानवतावाद, जातिवाद-विरोध, अद्वैतवाद आदि से साम्य रखते हैं। इस

---

42 ओम प्रकाश त्रिपाठी- सत साहित्य और लोकमगल , पृ- 140

प्रकार छायावाद में किसी कवि को संतों की निराकार समरसता ने प्रभावित किया तो किसी को उनकी रहस्यानुभूति ने और किसी को घर-फूॅंक मस्ती और फक्कड़ाना अन्दाज ने प्रभावित किया। संतों के मानवतावाद से वे गहरे प्रभावित हैं।

इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य और संतमत के व्रिदोही तेवर, क्रांतिभावना, शोषण का विरोध, समतामूलक समाज की स्थापनार्थ जाति,वर्ण,धर्म, सम्प्रदाय का विरोध, आदि में काफी साम्य है। वैभव, शक्ति, एवं शोषण की सत्ता को संतों ने भी नकारा और प्रगतिवादी तो इसके परम शत्रु हैं।

''समाजव्यापी मिथ्याडम्बर, शोषण एवं अत्याचार के बीच उत्पन्न द्वन्द्व एवं तनाव दोनों खेमों की कविताअें में उभरा है। दोनों तरह की कविताओं की यही निकटता है। शायद इसीलिए आज का रचनाकार अपने को कबीर के अधिक निकट खड़ा महसूस करता है।''[43] धार्मिक विकृति और सामाजिक विद्रूपता के विरूद्ध जिन विन्दुओं पर संतों ने अपने समय में चुनौती दी थी, सामाजिक संदर्भों में प्रगतिवादी भी चुनौती देते रहे हैं। वस्तुतः दोनों के मूल में सम्पूर्ण मानवतावादी दृष्टि ही प्रमुख रही है। दोनों अनुभूति की प्रामाणिकता पर जोर देते हैं, अभिव्यक्ति पक्ष पर नहीं, क्योंकि दोनों को अपनी बात जनसाधारण तक पहुॅचानी थी, परम्परागत काव्यशास्त्रीय चश्में से न तो संत-काव्य को और नही प्रगतिवादी काव्य को परखा जा सकता। इस तरह दोनों में काव्यशास्त्र की आरोपित जकड़बन्दी से मुक्ति प्रदान की कविता को। निरालाः ' मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण का ही मूल होती है।[44]

ओम प्रकाश त्रिपाठी : ''कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रयोगवादी कविता का आविर्भाव जिस अनुभूति की प्रामाणिकता और व्यक्ति की उससे जुड़ी संलग्नता या

---

43. ओम प्रकाश त्रिपाठी- संत साहित्य और लोकमंगल, पृ0- 145
44. परमानन्द श्रीवास्तव- निराला (भारतीय साहित्य के निर्माता), पृ-1

अद्वैत को लेकर हुआ, उसका संकेत संत-कवियों की कथनी और करनी के अद्वैत से बहुत मेल खाता है।[45] नयी कविता तो कथ्य और कथन-प्रकार, दोनों धरातल पर संत-काव्य से प्रभावित है। लघुमानव और उसकी प्रामाणिक अनुभूति में जन कल्याण की चेतना स्वतः समाहित है। 'मानवीय पीड़ा के सबब उपजी जन जन के कल्याण की इस परिवर्तित दृष्टि एवं भावना का मूल स्रोत सीधे-सीधे संतों को छोड़कर पूरे हिन्दी साहित्य में इससे पहले नहीं दिखायी देता। सबसे पहले संतों ने ही उस पीड़ा को अपनी वाणियों में अभिव्यक्ति दी, जो नयी कविता के रचनाकारों के यहाँ लघुमानव है। संत ऐसी कोई बात नहीं कहते जिसे उन्होंने अपने अनुभव से प्रमाणित न पाया हो।"[46] संतों के यहॉ सीधी-सादी शैली में बात कही गयी है तो नयी कविता में भी सपाट बयानी है। संत-काव्य में उलटवासियाँ और रूपक थे तो नयी कविता में बिम्ब और फैंटेसी हैं। वस्तुतः दोनों में समानता का बिन्दु है अनुभूति की विश्वसनीयता एवं प्रभावक्षमता। मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष हो, या अज्ञेय का साधारणीकरण, मुख्य दिक्कत है अनुभव को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने की और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में तो व्यंग्य की 'कबीर मुद्रा' मिलती है। नयी कविता जिस आन्दोलन के जिस दौर से गुजरी है, उसमें अकविता, युयुत्स कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, कबीरी कविता आदि किसिम-किसिम की कविताएं सामने आयी। इन सभी का अध्ययन बताता है कि अपने यथार्थ की विसंगतियों से जूझ रहा कवि अपनी एक नयी पहचान बनाने के साथ-साथ उस आधुनिक मानवतावादी विचारधारा को अभिव्यक्त करना चाहता है जिसमें "धर्मों, सम्प्रदायों और ईश्वर एवं देवताओं की परिधि में बँधकर व्यक्त होने वाली मानवहित-चेतना को यथा-शक्ति बंधनमुक्त करके विज्ञान की वस्तुपरक उपलब्धियों से सम्बद्ध करके सामाजिक स्तर पर प्रस्तुत करना, आज का प्रमुख ध्येय है।"[47] यह सही

---

45. संत साहित्य और लोकमगल, पृ0-146

46 संत साहित्य और लोकमगल, पृ0-147

47 जगदीश गुप्त 'नयी कविता - स्वरूप और समस्याए, पृ0-47

है कि संत-काव्य में वर्तमान जीवन-सापेक्ष्य कविता की वैज्ञानिक दृष्टि नहीं थी परन्तु समाज की विसंगतियों एवं धार्मिक विद्रूपताओं का खण्डन जिस भी प्रकार संत-काव्य में हुआ, वह वर्तमान नये काव्य का प्रमुख प्रेरणास्रोत रहा है। यही कारण है कि नयी कविता के व्याख्याता अपनी पृष्ठभूमि की तलाश में अनायास कबीर, निराला आदि से अपने को जुड़ा हुआ पाते हैं। इसी तरह धूमिल, जगूड़ी, अरूण कमल, असद जैदी प्रभृति कवियों की आक्रोश-भरी व्यंग्यपरक कविताओं में संत-कवियों की व्यग्योक्तियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

आज का दलित साहित्य भी संत-मत से कम प्रभावित नहीं है। वैसे हिन्दी में यह 'दलित साहित्य-आन्दोलन मराठी साहित्य के प्रभाव से उत्पन्न हुआ। दलित साहित्य और चिन्तन से जुड़े अधिकांश विचारकों तथा लेखकों का मानना है कि वास्तविक दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा लिखा गया है। चाहे दलित लेखकों में ओम प्रकाश बाल्मीकि, डॉ० धर्मवीर, मोहनदास नैमिशराम, तुलसीराम, जयप्रकाश कर्दम, श्यौराज सिंह बचैन आदि हो अथवा गैर-दलित लेखकों में राजेन्द्र यादव, मैनेजर पाण्डेय आदि। ''यदि हम दलितों के जीवन के वास्तविक अनुभव और उनकी अभिव्यक्ति के प्रसंग में मैनेजर पाण्डेय के एक साक्षात्कार में उद्‌धृत ज्योतिबा फूले के उस कथन को ध्यान में रखें कि 'गुलामी की यातना को जो सहता है, वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नही' तो साफ पता चलता है कि दलित-जीवन की वास्तविक पीड़ा को वही व्यक्त कर सकता है जो स्वयं दलित है।''[48] वर्ण-व्यवस्था एवं जातिवाद से उपजी घोर अमानवीय, पशुओं से भी बदतर जिन्दगी जीने वाले इन दलितों ने समय-समय पर अपनी भावनाओं को मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया, वह निश्चय ही त्रासदपूर्ण और दिल दहला देने वाली है चाहे वह संत-कवि रैदास की वाणी हो या हीरा डोम की शिकायत। संत रैदास की आत्म-स्वीकृति, दलित-जाति और जीवन से जुड़ी जिस दूसरी पीड़ा की ओर संकेत

---

48 देवेन्द्र चौबे- दलित साहित्य की वैचारिक संरचना (आज कल, दिसम्बर, 2000 में प्रकाशित ), पृ0- 6

करती है, उसे वही लोग समझ सकते हैं जो उससे गुजर चुके हैं। उनकी भक्तिभावना भले ही समाज की निगाह में ऊँची हो, मगर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा-

रैदास जन्म के कारणै, होत न कोई नीच।
नर को नीच करि डारि दै, औछे करम की नीच।[49]

हिन्दी में दलित-जीवन से जुड़ी रचनाओं की शुरुआत यद्यपि कबीर, रैदास, हीराडोम, निराला, प्रेमचन्द और राहुल सांकृत्यायन जैसे रचनाकारों से होती है लेकिन उनकी रचनाओं की पहचान दलित साहित्य के रूप में कम, शूद्र और निम्नवर्गीय समाज पर केन्द्रित साहित्य के रूप में अधिक होती है।[50] परन्तु संत-काव्य में गैर बराबरी के सामन्ती स्तम्भ जातिवाद, छुआछूत, भेदभाव, ब्राह्मणवाद, आदि की जो तीखी निन्दा हुई है, वही निन्दा दलित साहित्य का भी प्रधान स्वर है। ओम प्रकाश वाल्मीकि ''वर्ण-व्यवस्था से उपजी घोर अमानवीयता, स्वतंत्रता-समता-विरोधी सामाजिक अलगाव की पक्षधर सोच को परिवर्तित कर बदलाव की प्रक्रिया को तेज करना दलित साहित्य की मूलभूत संवेदना है तथा इसी क्रम में उनका यह स्वीकारना कि अंबेडकर और ज्योतिबा फूले की जीवन दृष्टि दलित साहित्य की ऊर्जा है।[51] जाहिर है कि दोनों विचारक जातिवाद और ब्राह्मणवाद जैसी कृत्रिम गैरबराबरी के विरोधी थे। मराठा भक्ति-आन्दोलन में नामदेव जैसे संतों की प्रमुख भूमिका रही, जिससे फूले जैसे आधुनिक समाज-सुधारकों की पृष्ठभूमि तैयार हुई। ओम प्रकाश बाल्मीकि ने अपनी रचनाओं-'सदियों का संताप' 'बस्स! बहुत हो चुका' (काव्य संग्रह), 'जूठन' (आत्मकथा), 'सलाम' (कहानी संग्रह) के द्वारा वर्ण-जाति के प्रतीक ब्राह्मणवाद एवं दलितों के शोषण, दमन और तिरस्कार का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी 'जाति' कविता वर्ण-व्यवस्था और धार्मिक मायाजाल को तोड़ने की सार्थक पहल करती हैः

---

49 दलित साहित्य की वैचारिक संरचना (आज कल, दिसम्बर, 2000), पृ0-6

50. दलित साहित्य की वैचारिक सरचना (आज कल, दिसम्बर, 2000), पृ0-8

51 दलित साहित्य की वैचारिक सरचना (आज कल, दिसम्बर, 2000), पृ0-7

स्वीकार्य नहीं मुझे/जाना, मृत्यु के बाद/ तुम्हारे स्वर्ग में।

वहाँ भी तुम/ पहचानोंगे मुझे/ मेरी जाति से ही।" - (बस्स! बहुत हो चुका)

कबीर भी तो ऐसे प्रियतम (परम सत्ता और भेदभाव-रहित) के बिना स्वर्ग नहीं, नर्क पसंद करेंगे जहां वह हो-

दोजग तौ हम अँगियां, यहु डर नाही मुज्झ।
भिस्ति ने मेरे चाहिए, बांझ पियारे तुज्झ।।[52]

1914 में सरस्वती में छपी हीरा डोम की भोजपुरी कविता जिसे हिन्दी की पहली दलित कविता कहा जाता है, का सक्षेप में हिन्दी अनुवाद देखने पर पता चलता है- भेदभाव, छूआछूत का भयावह दृश्य, "हम लोग डोम है, कुँए के पास नहीं जा सकते। गंदला कीचड़ का पानी हम पीते हैं। जूते से पीट-पीट वे हमारे पैर तोड़ देते हैं। हम लोगों को इतनी यातना क्यों उठानी पड़ती है? जिस हाड़-मांस का हमारा शरीर बना है, उसी का इन ब्राह्मणों का, इन ठाकुरों का बना हुआ है, तो क्या बात है कि जो ये पूजे जाते हैं और हमारी पूजा जूतों से होती है।"[53] यह पीड़ा संतों को भी थी, उन्होंने भी जातीय श्रेष्ठता पर सवाल किये:

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थै सब उत्पन्ना, कौन बाह्मन कौन सूदा।। (कबीर)

संत-साहित्य का स्वर है मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करना और श्रमिक वर्ग को सम्मान देना। जाहिर है कि अधिकांश संत खुद भी दलित एवं श्रमिक वर्ग के थे। मनोज कुमार कैन : "वर्तमान में लिखा जा रहा दलित साहित्य वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का खण्डन करके मानवतावाद का समर्थन करता है, साथ ही सामाजिक ढांचे में परिवर्तन लाने की मांग भी करता है। दलित साहित्य वर्षों से बने

---

52 कबीर संग्रह (प्रथम संस्करण, 2000), पृ0- 43

53. मनोज कुमार कैन-दलित साहित्य · एक परिचय (आजकल, दिसम्बर, 2000 में प्रकाशित लेख), पृ0-10

अन्धविश्वासों को तोड़कर आम आदमी के सुख-दुख से जुड़ने की प्रेरणा देता है। जैसी स्थिति दलितो की रही, उसी तरह की स्थिति हमारे समाज में स्त्रियों की है। यह साहित्य स्त्रियों को पुरूष के समान अधिकार देने की भी बात करता है। दलित साहित्य श्रमिक-वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है और उनके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए उनमें चेतना का संचार करता है। इसलिए यह साहित्य कुछ लोगों का साहित्य न होकर जन-जन का साहित्य बन जाता है, क्योंकि यह सत्य, यथार्थवाद और सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ सम्बद्ध है।''[54] दलित साहित्य को नकारा नहीं जा सकता, हिन्दी साहित्य के विराटफलक में वह स्थापित होगा ही क्योंकि उसमें अनुभूत सत्य की ऊर्जा है। आरम्भ में निर्गुण संतों को भी 'बिना पढे-लिखे', 'अनगढ़ भाषा' वाले कहकर महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु एक दिन वह स्थापित हो गया। आज सच्चा सामाजिक चिन्तक अपने को कबीर से जुड़ने पर ऊर्जा एवं संबल पाता है। दलित साहित्य, संत-साहित्य की विचारधारा से प्रभावित है और यह धारा आगे न बढ़ सकने का उसे मलाल है। महीप सिंह : ''हिन्दी में दलित साहित्य की आवश्यकता कई सदियों से महसूस की जा रही है। कबीर दास सबसे बड़े प्रमाण है इस बात के, परन्तु सवर्ण मानसिकता में ऐसे साहित्य को उभरने का कम अवसर प्राप्त हुआ। मराठी में आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उससे हिन्दी में लिखने वालों को प्रेरणा मिलने लगी''।[55]

दलित साहित्य सामाजिक-सांस्कृतिक मानसिकता में परिवर्तन के साथ-साथ, राजनीत में दलितों की आवाज बुलन्द करना चाहता है जो संतों से भी आगे की दृष्टि है। जयप्रकाश कर्दम, ''दलित साहित्य की संकल्पना में दुनिया में मानव सबसे बड़ी सत्ता है। मनुष्यता से बढ़कर कोई चीज नहीं है। इसलिए दलित साहित्य न वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है, न ईश्वर, आत्मा आदि किसी भी नित्य अथवा शाश्वत सत्ता के अस्तित्व को मानता। वह कर्म और कर्मफल को भी मनुष्य में निहित

---

54 दलित साहित्य, एक परिचय (आजकल, दिसम्बर, 2000), पृ0-10

55 दलित साहित्य, एक परिचय (आजकल, दिसम्बर, 2000), पृ0-13

मानता है।"[56] लेकिन दलित साहित्य में जो अतिशय जातिविरोध है वह एक विशिष्ट जातिवाद की रचना कर सकता है। इस पर राजकुमार सैनी का यह वक्तव्य उचित हो सकता है : "ब्राह्मणवाद, ठाकुरवाद अथवा बनियावाद जितना अवांछनीय है, उतना ही अवांछनीय शूद्रवाद भी हो सकता है। कोई भी श्रेष्ठ संस्कृति अथवा कोई भी श्रेष्ठ साहित्य अपने समाज के एक हिस्से, एक वर्ग, एक जाति का पक्षधर होकर सार्थक नहीं हो सकता। अन्ततः उसे पूरे समाज के कल्याण के साथ अपने को जोड़ना ही पड़ता है।"

इस प्रकार संतमत के सम्बन्ध में ओम प्रकाश त्रिपाठी का यह कथन ठीक है कि "आज की हिन्दी कविता किसी भी स्तर पर उन संत-कवियों को काटकर नहीं चल सकती जिन्होंने 'जो सिर काटै अपना, चलै हमारे साथ' कहकर लोक मंगल का नेतृत्व किया था।"[57] इस प्रकार जब तक जातिभेद, धार्मिक संघर्ष, आर्थिक-शोषण, हिंसा और गैर बराबरी समाप्त नहीं हो जाती, तब तक संत-मत की प्रासंगिकता और उपयोगिता बनी रहेगी। मानवता के कल्याण के लिए संतों द्वारा किया गया संघर्ष वर्तमान संदर्भ में भी प्रासंगिक है और भविष्य में भी बना रहेगा।

ഇ●ര

---

56. दलित साहित्य · एक परिचय (आजकल दिसम्बर, 2000), पृ0-12

57 औमप्रकाश त्रिपाठी-सत साहित्य और लोकमंगल पृ0 148

# पुस्तक नामानुक्रमणिका


1 अथर्ववेदसंहिता – (सं०) पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक स्वध्याय मण्डल, पारडी नगरम्, गुजरात, चतुर्थ संस्करण।

2. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा – मो० क० गांधी, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन नई दिल्ली, 1994

3 आधुनिक भारत – मजूमदार, राय चौधरी तथा दत्त, प्रकाशन मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, तीसरा संस्करण, पुनर्मुद्रित।

4. आधुनिक भारत – सुमित सरकार, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110003, पहला छात्र संस्करण – 1992, छठी आवृत्ति–1999.

5. आधुनिक भारत का इतिहास . एक नवीन मूल्यांकन – वी०एल० ग्रोवर, एस०चन्द एण्ड कम्पनी लि०, रामनगर, नई दिल्ली – 110055 द्वारा प्रकाशित, आठवां संशोधित तथा सम्वर्धित सस्करण 1992 पुन मुद्रित 1994

6. उत्तरी भारत की सत परम्परा – आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

7. ऋग्वेदसंहिता – (सं०) पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक स्वध्याय मण्डल, पारडी नगरम्, गुजरात, चतुर्थ संस्करण।

8. एनशियन्ट इण्डिया – मजूमदार, राय चौधरी तथा दत्त, मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली।

9 कबीर ग्रन्थावली – (सं०) डॉ० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित।

10. कबीर बाणी सुधा – (सं०) डॉ० पारस नाथ तिवारी, 1972 ई०।

11. कबीर ग्रन्थावली – (सं०) पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

12. कबीर ग्रन्थावली – (सं०) डॉ० माता प्रसाद गुप्त, साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, के०पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद–211003 द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण, 1985.

13. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० 1-बी, नेता जी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली–110002 छात्र संस्करण : 1990, पुर्नमुद्रण : छठां 1999.

14. कबीर साहित्य की परख – परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित, 1970।

15. कबीर मीमांसा – डॉ० रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–1, तृतीय संस्करण 1989

16. कबीर पदावली – (सं०) डॉ० राम कुमार वर्मा

17. कबीर वचनावली – अयोध्या सिंह उपाध्याय, 'हरिऔध, ना०प्र०स० काशी, 2015 विक्रमी।

18. कबीर वाङ्मय : खण्ड –2 : सबद – डॉ० जयदेव सिंह एवं डॉ० वासुदेव सिंह, प्रकाशक विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–221001 संस्करण : 1998

19 कबीर संग्रह (प्रस्तुत संकलन : 2000) हिन्दी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण : 2000

20 गीतांजलि – रविन्द्र नाथ टैगोर

21 गुरू गोविन्द सिह – डॉ० गोपाल सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण 1967, दूसरी आवृत्ति . 2000

22. चरन दास की बानी, भाग–1 एवं 2 – वे० प्रेस, प्रयाग।

23. दयाबोध – दयाबाई

24. दयाबाई की बानी – प्रकाशक वेलबीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद 1976

25 दादू दयाल की बानी, भाग–1 एवं 2 – जेल प्रेस, जयपुर और बेल बेडियर प्रिंटिंग वर्कस, इलाहाबाद से प्रकाशित।

26 नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ – जगदीश गुप्त

27. नानक बानी : (सं०) भाई जोधा सिंह।

28 नानक बानी : डॉ० जय राम मिश्र, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद, 1961.

29. निर्गुण काव्य दर्शन – सिद्धिनाथ तिवारी

30 पलटू साहब की बानी भाग–1, 2 एवं 3 – वे० प्रेस, प्रयाग

31 पीपुल्स ऑफ इण्डिया – रिजली

32. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास – राधा कृष्ण चौधरी, भारतीय भवन, ठाकुरबाड़ी रोड, कदम कुआँ, पटना, सातवां संस्करण, 1989।

33 भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास – डॉ० ताराचन्द, दिल्ली प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, 1965

34. भारत का स्वतंत्रता संघर्ष – प्रो० विपिनचन्द्र एवं मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, क० न० पनिकर, सुचेता महाजन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई० ए० / 6 माडल टाउन, दिल्ली – 110009 द्वारा प्रकाश्ति-नवम् संस्करण (1995), तेरहवा पुनर्मुद्रण, 1997.

35. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति – एस० आबिद हुसैन (अनुवादक– दुर्गाशंकर शुक्ल), निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, ए -5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली–110016 द्वारा प्रकाशित, तीसरी आवृत्ति, 1997

36 भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास – सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

37. भारतीय संस्कृति का विकास – सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री सरस्वती सदन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

38. भारतीय लोकनीति और सभ्यता, पहला खण्ड–श्रीकृष्ण व्यकंटेश पुणताम्बेकर

39. भारत की राष्ट्रीय एकता – हरिवंश तरूण, प्रकाशक : ज्ञान गंगा, 205-सी चावड़ी बाजार, दिल्ली–110006 : संस्करण : 1992

40 मलूकदास की बानी – वे० वे० प्रेस, प्रयाग

41 मध्यकालीन भारत – (सं०) हरिश्चन्द्र वर्मा, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, ई०ए०/6 मॉडल टाउन, दिल्ली–110009 द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संशोधित संस्करण, पुर्नमुद्रण–1987.

42 मध्यकालीन प्रशासन, समाज एव संस्कृति – प्रो० राधेश्याम, प्रकाशक भार्गव बुक हाउस, कटरा, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1993

43. मध्ययुगीन निर्गुण चेतना– डॉ० धर्मपाल मैनी, प्रकाशक– लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, सन् 1972

44. मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति – डॉ० झारखण्डे चौबे एवं डॉ० कन्हैया लाल श्रीवास्तव, हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग, उ०प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण 1979

45 योग प्रवाह – डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, 2003 विक्रमी।

46. रामानन्द की हिन्दी रचनाएं – ना०प्र० सभा काशी।

47 रविदास जी की बानी – वे०वे० प्रेस, प्रयाग।

48. शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता – (सं०) पं० जगदीश लाल शास्त्री, प्रकाशक मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1971, पुनर्मुद्रण 1987.

49. सहज प्रकाश – सहजोबाई कृत, वे०प्र०, प्रयाग।

50. सहजोबाई की बानी – प्रकाशक वेलबीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद 1976.

51 संत रविदास और उनका काव्य – (सं०) रामानन्द शास्त्री।

52. संतबानी संग्रह(सं०वा०सं०) भाग–1 एवं 2– वे०प्रे०, प्रयाग।

53. संत सुधासार खण्ड–1, 2 – वे० प्रे०, प्रयाग।

54. संत सुधासार – वियोगी हरि, पहली बार, 1953, प्रकाशक सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

55 संत काव्य – आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद।

56 संत कबीर – (सं०) डॉ० राम कुमार वर्मा, साहित्य भवन लि, इलाहाबाद, 1957.

57. संत कवि रज्जब (सम्प्रदाय और साहित्य)– डॉ० व्रजलाल वर्मा, प्रकाशक राजस्थान राज्याज्ञानुसार संचालक, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राजस्थान), विक्रमाब्द – 2021 (1965ई०).

58. संस्कृति के चार अध्याय – रामधारी सिंह दिनकर, लोक भारती प्रकाशन 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद–1 द्वारा प्रकाशित, नवीन संस्करण · 1998.

59. संत काव्य – परशुराम चतुर्वेदी, तृतीय संस्करण : 1967, प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद

60. संत साहित्य – श्री भुवनेश्वर नाथ माधव, प्रथम संस्करण : 1941, प्रकाशक ग्रन्थमाला कार्यालय, बॉकीपुर।

61 संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिता - रवीन्द्र कुमार सिंह, बाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994.

62. संत कवि दादू और उनका पंथ – डॉ० वासुदेव शर्मा, शोध प्रबन्ध प्रकाशन, नई दिल्ली।

63 संत चरणदास – डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।

64. स्त्री कवि संग्रह – (सं०) गणेश प्रसाद द्विवेदी, पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण द्वितीय, 1952, प्रकाशक हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ०प्र०, इलाहाबाद

65 सुन्दर विलास – संत सुन्दरदास, बेलवेडियर प्रिंटिंस वर्क्स, इला० 1983 ई० एवं किताब महल इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित चौथा संस्करण 1981

66. सुन्दर ग्रन्थावली – (सं०) हरि नारायण शर्मा

67. श्री गुरू ग्रन्थ साहिब – गुरूद्वारा इलाहबाद

68 श्री गुरू ग्रन्थ दर्शन – डॉ० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन इलाहाबाद।

69 श्री विष्णुमहापुराणम् – (सं०) क्षेमराजश्रीकृष्णदास, नाग पब्लिशर्स, 11A/U.A., (पोस्ट आफिस बिल्डिंग), जवाहर नगर, दिल्ली-7

70. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली भाग– 3 एवं 5– सम्पादक मुकुन्द द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, प्र०लि० 9वी, नेता जी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली– 110002 पहला पेपर बैकः संस्करण 1999

71. हिन्दुस्तान की कहानी – जवाहर लाल नेहरू, सस्ता साहित्य मंडल नई दिल्ली 1966

72. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय – डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, अनु० परशुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिशिंग हाउस लखनऊ 1968 ई०

73. हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड – (सं०) धीरेन्द्र वर्मा

74. हिन्दी साहित्य कोश – भाग-2 – (मु०सं०) धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक ज्ञानमण्डल लि० वाराणसी–1 द्वितीय संस्करण, आश्विन संवत् 2043 (1986 ई०)

75. हिन्दी संत काव्य संग्रह–(सं०) गणेश प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संशोधित एवं परिवर्धित, हिन्दुस्तानी एकेडमी उ०प्र०, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करण – 1974

76. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास– डॉ० राम कुमार वर्मा (1954)

77. हिन्दी साहित्य का इतिहास – एच० पी० सिन्हा एवं डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव, किताब महल इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित, 1964 ई०

78. हिन्दी में मराठी संतों की देन – डॉ० विनय मोहन शर्मा (1957ई०)

79. हिन्दी साहित्य का इतिहास – (सं०) डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिसिंग हाउस 23, दरियागंज, नई दिल्ली– 110002 द्वारा प्रकाशित, दूसरा संस्करण 1986

80. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां – डॉ० शिव कुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन 2615, नई सड़क दिल्ली–110006. पन्द्रहवा संस्करण 1996

81. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास–प्रो० मोहन अवस्थी, प्रकाशन– सरस्वती प्रेस इलाहाबाद : दिल्ली पाविर्तित संस्करण : 1983

82 हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास– विश्वनाथ त्रिपाठी, एन0.सी0ई0आर0टी0 प्रकाशन विभाग, सातवां पुर्नमुद्रण फरवरी, 1996

83. हिन्दी भाषा – डॉ0 हरदेव वाहरी, अभिव्यक्ति प्रकाशन B-31, गोबिन्द पुर कालोनी इलाहाबाद – 211004 द्वारा प्रकाशित संस्करण : 1997

## शोध ग्रन्थ

1 संत साहित्य में मानव मूल्य – डॉ0 देवमणि उर्फ मीना मिश्रा, साहित्य भवन प्रा0लि0 जीरोरोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : 1989

2 हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ – डॉ0 आशा श्रीवास्तव, अंशू प्रकाशन 8/710, तहसील रोड देवरिया, उ0प्र0 प्रथम संस्करण 1989

3 संत साहित्य और लोकमंगल – डॉ0 ओम प्रकाश त्रिपाठी, लोक भारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1 द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण . 1993

4. राष्ट्रीय एकता एवम् अखण्डता के सन्दर्भ में बाणभट्ट की कृतियों का अनुशीलन (अप्रकाशित) – डॉ0 अर्चना श्रीवास्तव

## अंग्रेजी ग्रन्थ

1. एजूकेशन – स्वामी विवेकानन्द
2. ग्लिम्पसेज आफ मेडिवल इण्डियन कल्चर– डॉ0 यूसुफ हुसैन बम्बई 1959.
3. हिस्ट्री आफ मेडिवल इण्डिया, डॉ0 इश्वरी प्रसाद, इलाहाबाद 1948
4. इण्डियन यूनिटी – आर0बी0 रामचन्द्र शेखर
5. इण्डियन यूनिटी – एम0 विश्वेश्वरैया, राधा कुमुद मुकर्जी एण्ड जवाहर लाल नेहरू
6 इण्डिया विन्स फ्रीडम– मौलाना अबुल कलाम आजाद
6. इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर– डॉ0 तारा चन्द इलाहाबाद 1963.
7. द वेसिस ऑफ इण्डियन यूनिटी– एस0 श्री निवासाचार
8. द यूनिटी ऑफ इण्डिया – डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद
9. विवेकानंद : हिजकॉल टू द नेशन – रामकृष्ण मिशन प्रकाशन

## पत्र–पत्रिकाएँ

1 आज कल– (हिन्दी) मासिक पत्रिका, अंक दिसम्बर 2000

2. आलोचना (हिन्दी) त्रैमासिक पत्रिका, सहस्राब्दी अंक एक, 2000, (अप्रैल–जून), प्रधान सम्पादक – नामवर सिंह , राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0 1-बी नेता जी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली।

3. मुक्त धारा (हिन्दी) पाक्षिक
4. द इण्डियन नेशन (अंग्रेजी) डेली ।
5. हिन्दी नवजीवन।